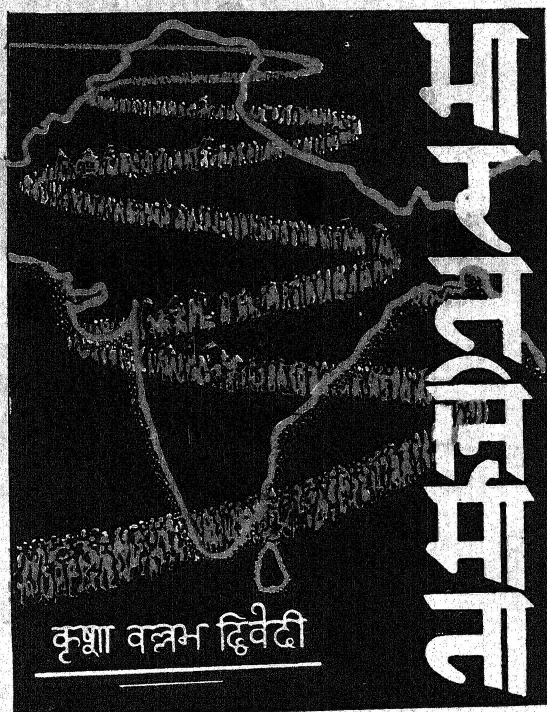
हमारे प्रकाशन

भारत निर्माता में क्या है ?

- भारतीय संस्कृति और राष्ट्र का निर्माण करनेवाले प्रतिनिधि महापुरुषों के एक नवीन दृष्टिकोण से अंकित ओजपूर्ण परिचय !
- साथ ही क्रेयान-शैली में प्रत्येक के अत्यंत कलापूर्ण चित्र भी !!
- और इन्हीं में पिरोया हुआ हमारी संस्कृति के भव्य अतीत एवं आशाभरे वर्त्तमान का वह लेखा, जो हमारे भविष्य की रीढ़ है !!!

सुदूर प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक युग तक के अपने चुने हुए प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन युग-निर्माताओं, विचारकों, कवियों, दार्शनिकों, कलाकारों, सुधारकों, साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों और संत महापुरुषों के पावन चरित्र एवं दिव्य व्यक्तित्व की झाँकियाँ इस ग्रंथ में हैं, जिनसे आपको कुछ अन्दाज़ मिल सकेगा कि हम कौन थे, क्या हैं और क्या होने जा रहे हैं !



यह कलापूर्ण चित्रपट-जैसा प्रकाशन कोरा एक ग्रंथ ही नहीं, यह है हमारे युग-युग की दिव्य देन का प्रकाशमान आलेख, हमारी मातृभूमि की आत्मकहानी के सबसे उज्ज्वल पृष्ठों का सार, अपने ऋषितुल्य पूर्वजों के प्रति श्रद्धा और सम्मान की एक अञ्जलि ! और इसकी फड़कती हुई लेखन-शैली एवं ओजपूर्ण चरित्र-चित्रण में तो आपको गद्य-काव्य का रसास्वादन करने का अवसर मिलेगा !

पहला भाग

जिसमें मनु से अहल्याबाई तक के प्राचीन और मध्यकालीन अंश का समावेश है

छपकर तैयार है !

दो भागों में समाप्त : प्रथम भाग तैयार

१०० पौण्ड के मोटे एण्टिक कागज़ पर दो रंगों में छपा

'विश्व-भारती' से भी बड़ा आकार : सुंदर आवरण

प्रथम खण्ड का मूल्य

३।) रु०

डाकखर्च के लिए ।।=) अतिरिक्त]

दूसरा भाग

जिसमें राममोहनराय से आज तक के अर्वाचीन युग के महापुरुषों का समावेश है

तैयार हो रहा है !

हमारे प्रकाशन

हिन्दी में अपने ढंग की सबसे अनूठी पुस्तक !

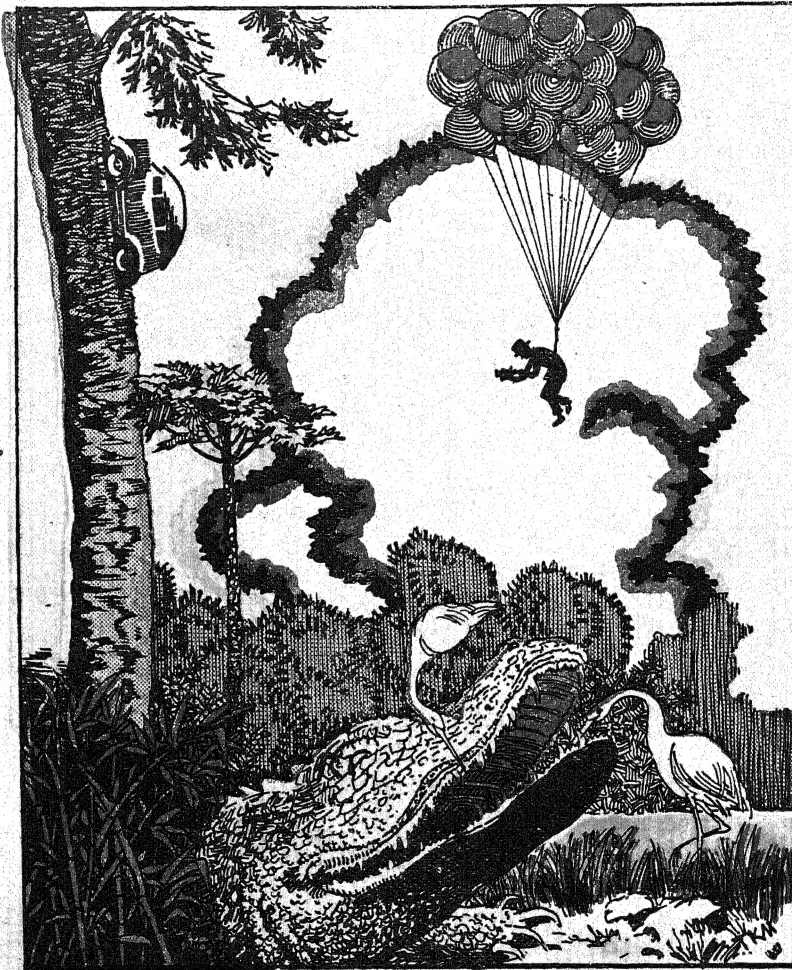
मानो-न मानो

अर्थात्

विश्व की अनहोनी-सी किन्तु शत-प्रति-शत सच्ची विचित्र बातों का संग्रह

जिसे एक बार हाथों में लेकर आप बिना पूरा पढ़े अलग न रख सकेंगे !
बच्चों के लिए यह एक खिलौना है और बड़े-बूढ़ों के लिए कुतूहल
तथा मनोरंजन का एक अद्वितीय साधन !

इस अनोखी पुस्तक में संगृहीत अद्भुत विषयों में से कुछ के शीर्षक
२५० फ़ीट ऊँची सुराही
उत्थानपाद
विकट सूर्योपासक
दाढ़ीवाला घोड़ा
मुर्गी से मुर्गा
मनुष्य के सिर का फुटबाल
सींगवाला मनुष्य
सत्रह वर्षीया नानी
अग्निभक्षक
बुढ़िया से बालिका
अल्यूमीनियम का गाउन
जहाँ पुरुष बुर्का पहने रहते हैं और स्त्रियाँ मुख खोले रहती हैं
साँपिन सुन्दरी
रेल से १०० मील की दूरी पर स्टेशन
आदि आदि

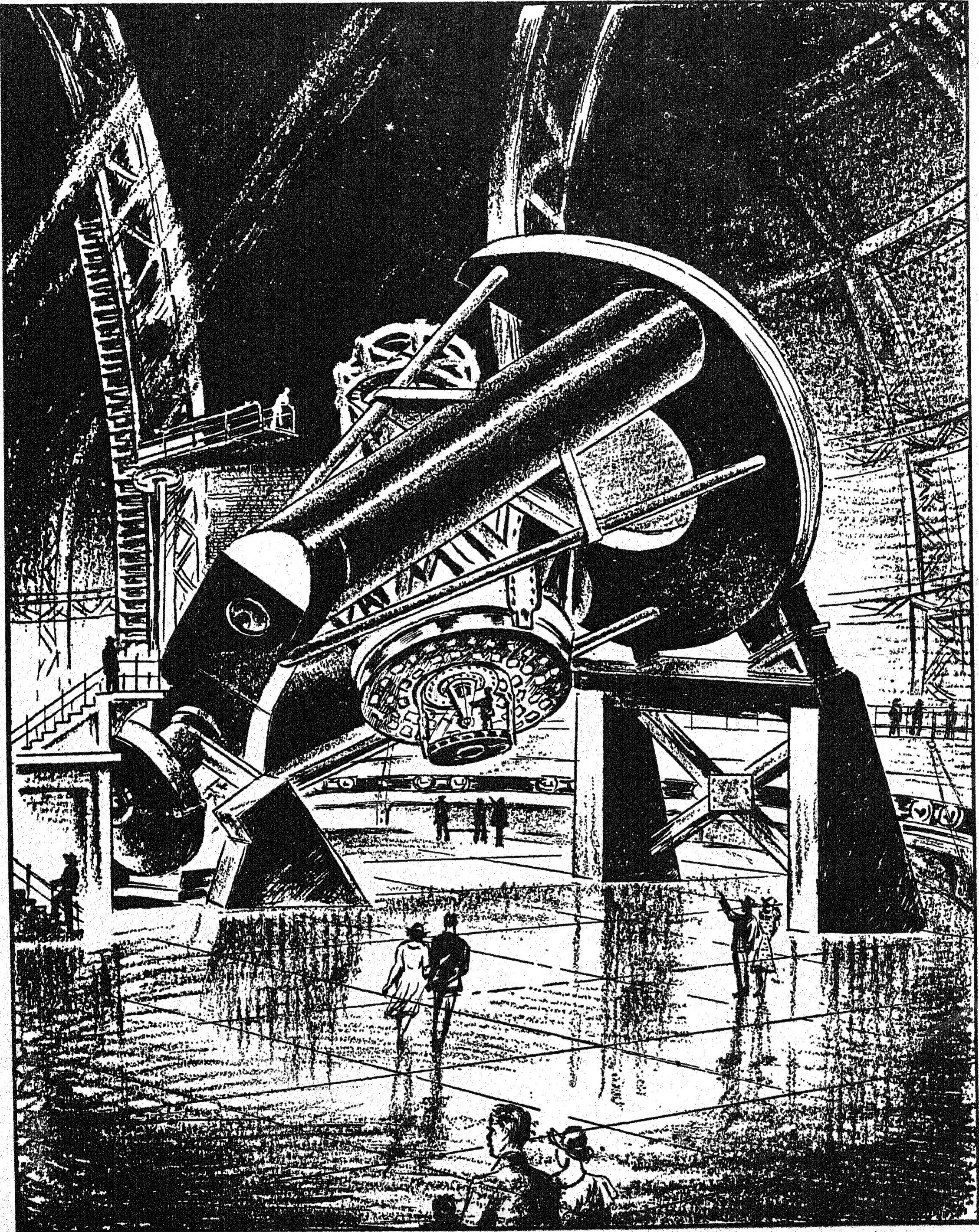


क्या आप दाँतों तले उँगली दबाए बिना इन शीर्षकों पर विश्वास कर सकेंगे—
पत्थर के जंगल
मोमबत्ती की तरह जलनेवाली मछली
दूध देने वाला बकरा
गानेवाली मूर्त्ति
शाहदौला का चूहा
भैंसा पल्टन
मस्तक के छेद द्वारा सिगरेट पीना
दो सिरवाला साँप
दो जुड़ी बहनें
पैट्रोल से आग बुझाना
अपनी दस पीढ़ी का प्रपितामह
समुद्र की लहरों पर चलनेवाली चिड़िया
आदि आदि

'विश्व-भारती' के आकार के डेढ़ सौ पृष्ठ : सुंदर जिल्द
ढाई सौ से अधिक अनोखे चित्र : दो तिरंगी तस्वीरें
मूल्य ३।)
[डाकख़र्च के लिए ।।=) अतिरिक्त]



विश्व की कहानी



चर्मचक्षुओं द्वारा सारे विश्व-ब्रह्माण्ड की झाँकी देखने की मानवीय जिज्ञासा का प्रखर प्रतीक

इस चित्र में उस महान् पर्व-दिवस की कल्पना की गई है, जब प्रस्तावित २०० इंच व्यास का दूरदर्शक अपने विशाल गृह में प्रस्थापित होकर हमारी ज्ञान-परिधि के सीमान्त का अनुसंधान प्रारंभ कर देगा। अनुमान किया जाता है कि इस महान् आकाशभेदी यंत्र के आरोपित होने पर माउंट पालोमर का दूरदर्शक-भवन भीतर की ओर ऐसा ही कुछ दृश्य प्रस्तुत करेगा। चित्र में दिखाई दे रही मानवाकृतियों से तुलना कर इस दीर्घकाय यंत्र की विशालता का अंदाज़ लगाइए !

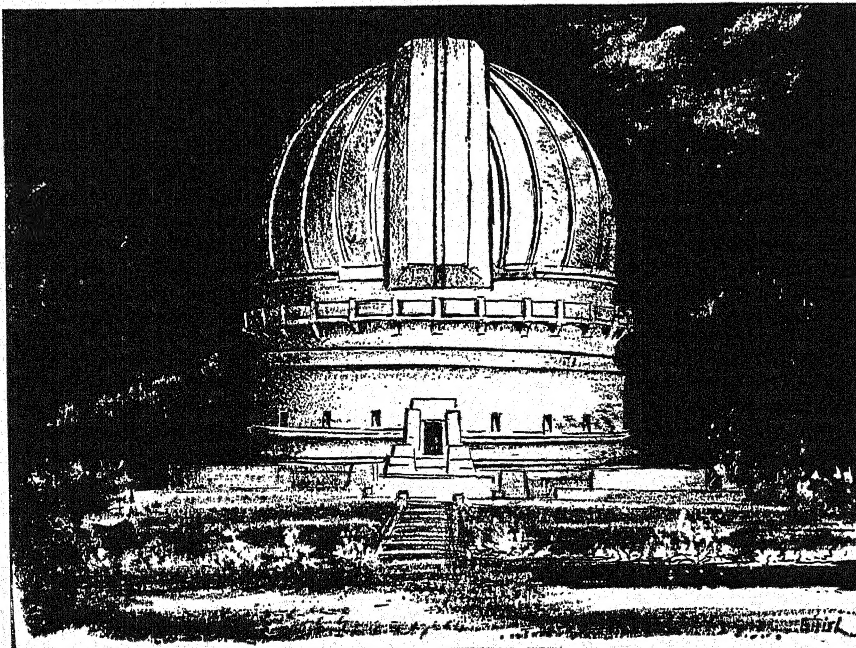
आकाश की बातें

संसार का सबसे महान् नवीन दूरवीक्षण-यंत्र

२०० इंच व्यास का प्रस्तावित दूरदर्शक

जिसकी तुलना में दुनिया के तथाकथित सप्त आश्चर्य (Seven Wonders) फीके और निष्प्रभ प्रतीत होते हैं। कौन कह सकता है कि जिस दिन आधुनिक मानव का यह ब्रह्माण्ड-भेदी नेत्र अपनी पलक उठाएगा, उस दिन विज्ञान की कितनी समस्याएँ न सुलझ जाएँगी ?

पंद्रह वर्षों से लोग संसार के सबसे बड़े नवीन दूरदर्शक की चर्चा समाचारपत्रों में पढ़ते आ रहे हैं। कई बार सूचना मिली थी कि यह दूरदर्शक अब कुछ ही महीनों में तैयार होनेवाला है, परंतु आज भी (१९४२ के अंत तक) यह पूर्णतया तैयार नहीं हो पाया है। कारण यह है कि इतना बड़ा दूरदर्शक — इसके दर्पण का व्यास २०० इंच होगा — अभी तक कहीं भी नहीं बना था और इसलिए तरह-तरह की कठिनाइयाँ उपस्थित होती रही हैं। आरंभ में बहुत-से वैज्ञानिकों को संदेह था कि इतना बड़ा दूरदर्शक बन भी सकेगा या नहीं। वस्तुतः, इस दूरदर्शक के बनाने की कठिनाइयों पर गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन और इंजीनियरिंग, इन सभी के विशेषज्ञों के पूर्ण सहयोग से ही विजय मिल सकी है। केवल रुपये की ही बात यह नहीं रही है, बल्कि यदि आज कोई चाहे कि ३०० या ४०० इंच व्यास का दूरदर्शक बने तो वह नहीं बन सकेगा — यह हमारे बस की बात नहीं है। १०० इंच वाले दूरदर्शक से इतनी नई बातों का पता चला कि ज्योतिषियों का विश्व-सम्बन्धी सिद्धांत ही बदल गया। तो भी सभी ज्योतिषियों की लालसा थी कि कोई और भी शक्तिशाली दूरदर्शक बने, जिससे



माउंट पालोमर के शिखर पर प्रस्थापित होनेवाला दूरदर्शक-गृह

जिसमें २०० इंच का महान् दूरदर्शक आरोपित होगा। इसके गुंबद का व्यास १३५ फ़ीट होगा !



२०० इंच व्यासवाले दर्पण की सिल्ली की पीठ के खाली पुश्ते
ऊपर बैठे हुए आदमियों की आकृति से तुलना कर सिल्ली के बृहत् आकार का कुछ-कुछ अंदाज़ लगाया जा सकता है।

ही नहीं, गरम शीशे को बहुत धीरे-धीरे ठंढा करना पड़ता है, नहीं तो वह तड़क जाता है। १०० इंच-वाले दूरदर्शक के दर्पण को ठंढा करने में कई महीने लगे थे, परंतु उसकी तौल कुल ५ टन थी। यदि २०० इंच व्यास के दर्पण को उसी पदार्थ का बनाया जाता और मोटाई भी उसी अनुपात में रखी जाती तो शीशे की तौल ४० टन (लगभग १००० मन) होती और इसे ठंढा करने में ६ वर्ष लगते! इससे कम समय में ठंढा करने में इसके तड़कने का भय रहता।

यदि दर्पण को शीशे का न बनाया जाय तो किसका बनाया जाय, इस प्रश्न पर अच्छी तरह विचार हुआ। मुरचा न खानेवाला (स्टेनलेस) इस्पात, अन्य इस्पात, इस्पात पर चिपकाया शीशा तथा और कई एक वैकल्पिक रीतियों पर विचार हुआ, परंतु अंतिम निर्णय यही हुआ कि केवल स्फटिक (क्वार्ट्ज़) से ही कुछ आशा की जा सकती है। परंतु इसमें कठिनाई

आज की उलझी हुई गुत्थियाँ भी सुलझ जायँ। डाक्टर हेल ने १९२७ में ज्योतिष पर एक लोकप्रिय लेख लिखा था जिसमें यह आशा हृदयग्राही रूप से प्रकट की गई थी। परिणाम-स्वरूप "रॉकफ़ैलर जनरल एजुकेशन बोर्ड" के सभापति ने इस कार्य के लिए ६० लाख डॉलर (लगभग दो करोड़ रुपया) दिया। तभी से २०० इंच व्यास के दूरदर्शक बनाने की चेष्टा हो रही है।

कठिनाइयाँ

सबसे अधिक कठिनाई इस बात में पड़ी कि इतना बड़ा शीशा कैसे ढाला जाय! जैसा हम पिछले लेखों में देख चुके हैं, पुराने समय में दर्पण फूल (धातु) के बनते थे, परंतु पीछे कई विशेष गुणों के कारण शीशे के ही दर्पण बनने लगे। परंतु शीशा ताप का अच्छा संचालक नहीं है, इसलिए विभिन्न भागों के तापक्रम में अंतर रहने पर शीशे के दर्पण की आकृति ही बदल जाती है। इतना

यह पड़ती है कि इसे गलाने के लिए प्रचंड ताप की आवश्यकता पड़ती है। तो भी विशेष रीतियों के उपयोग से २० इंच व्यास तक की सिल्ली बना ली गई और ऐसा संभव जान पड़ने लगा कि कदाचित् २०० इंच व्यास की सिल्ली भी बन जायगी। परंतु जब ख़र्च का परता बैठाया गया तो पता चला कि कुल प्राप्त धन का अधिकांश ऐसी सिल्ली बनाने में ही लग जायगा! इसलिए स्फटिक छोड़कर इसे 'पाइरेक्स' नामक शीशे का बनाना ही ठीक समझा गया। इसमें स्फटिक की अपेक्षा तापजनित प्रसार चौगुना होता है, यद्यपि शीशे की अपेक्षा एक-तिहाई ही होता है। विशेष पाइरेक्स में साधारण पाइरेक्स की अपेक्षा कुछ कम ही प्रसार होता है। अतएव अंत में २०० इंचवाले दर्पण के लिए इसी विशेष पाइरेक्स का उपयोग किया गया।

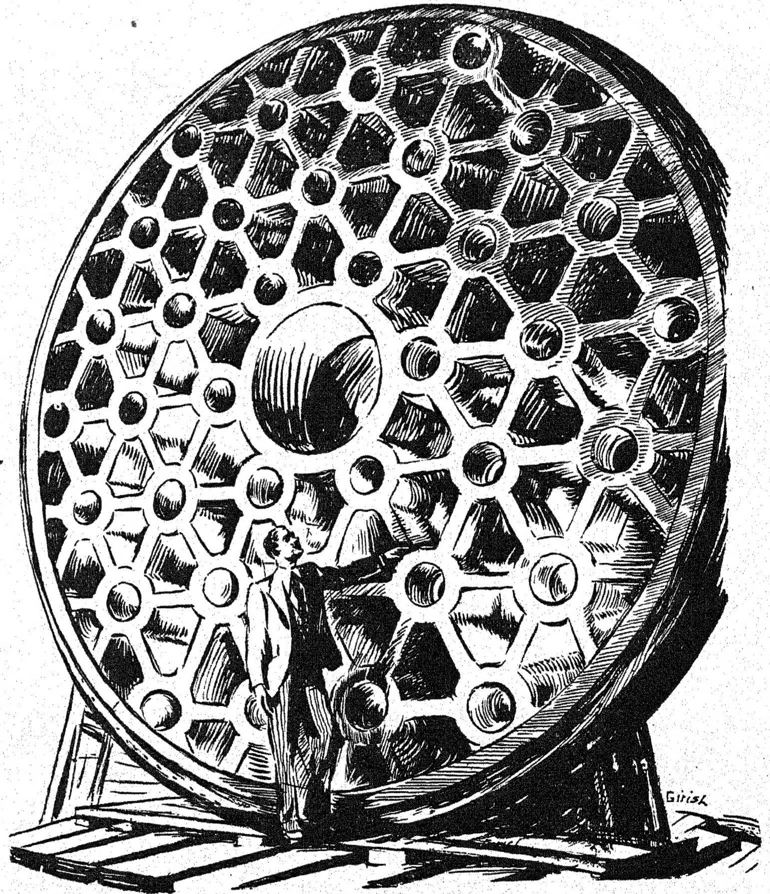
ढलाई और घिसाई

दर्पण को हलका बनाने के लिए यह निश्चय किया गया

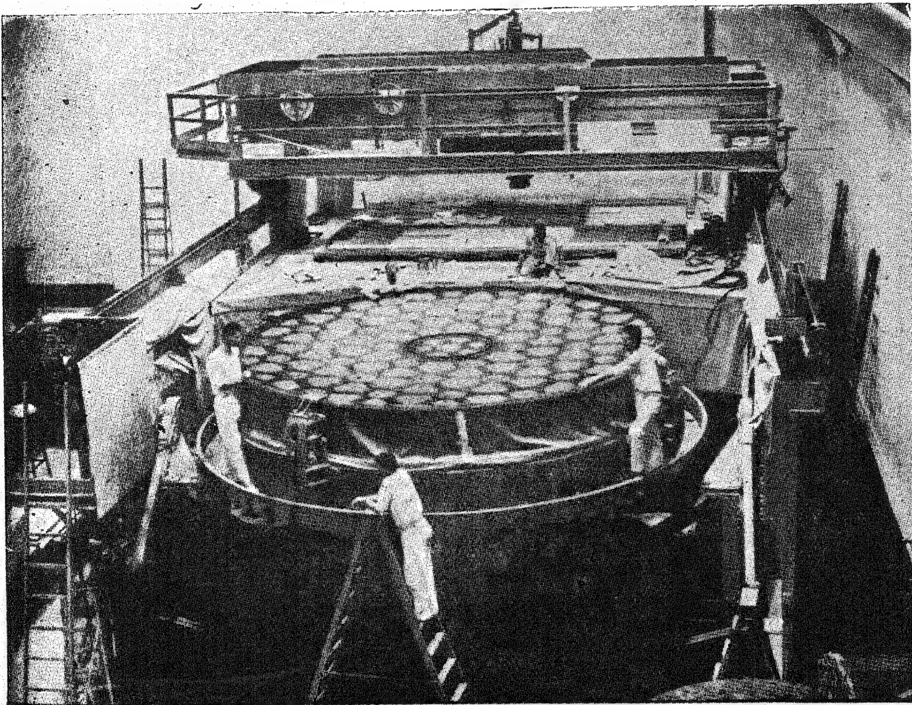
कि पीठ को सपाट न रखकर उस पर पुश्ते ढाल दिए जायँ। ऐसा करने पर अधिक पतली सिल्ली से काम चल जाता है और बोझ आधा हो जाता है। इस विशाल सिल्ली को ढालने का बीड़ा 'कॉरनिंग ग्लास कंपनी' ने उठाया। पाइरेक्स बहुत जल्द जमकर कड़ा हो जाता है, इसलिए बड़ी भट्ठी में साँचे को रखकर इस साँचे में पिघला हुआ पाइरेक्स डालना उचित समझा गया। पुश्तों के बनाने के लिए साँचे में ११४ ढोकों का लगाना आवश्यक था। इन्हीं से शीशे में पुश्तों के बीच का गड्ढा बनता। आरंभ में कई एक जाँचें की गईं कि इन ढोकों को कैसे स्थिर रक्खा जाय, क्योंकि शीशा ढालने पर ये उखड़ आते थे। अंत में उन्हें इस्पात के मोटे-मोटे बोल्टुओं से कसने पर कुछ सफलता मिली और १२० इंच व्यास की सिल्ली ढालकर देख ली गई कि यह रीति ठीक है। परंतु जब मार्च, १९३४, में पहली बार २०० इंच की सिल्ली ढाली गई तो बोल्टुओं का इस्पात भी पिघल गया! हाँ, परीक्षा के लिए इस सिल्ली को गणितसिद्ध वेग से दसगुने वेग से ठंढा किया गया, तो भी वह नहीं तड़की। इससे अत्यंत बहुमूल्य अनुभव प्राप्त हुआ।

दूसरी बार सिल्ली ढालने के लिए क्रोमियम और निकल-मिश्रित इस्पात के बोल्टुओं से ढोके कसे गए। ये ठीक रहे। सिल्ली दस महीने में धीरे-धीरे ठंढी की गई और ठीक निकली। अब प्रश्न यह था कि इस सिल्ली को पासाडेना तक कैसे पहुँचाया जाय! क्योंकि पासाडेना में ही इस पर घिसाई और पालिश हो सकती थी—वहीं माउंट विल्सन वेधशाला वाले घिसने, पालिश और क़लई करने के यंत्र थे। रास्ते की खड़-खड़ाहट से शीशे के टूट जाने की भी आशंका थी। अंत में शीशे को विशेष रूप से पैक करके और खड़ी स्थिति में रखकर रेल से पासाडेना पहुँचाया गया। मार्ग बहुत सोच-विचार कर चुनना पड़ा, क्योंकि कहीं-कहीं तो ऐसी सुरंगें या पुलें पड़ती थीं कि जिनके भीतर से जाने में केवल एक-दो इंच की ही जगह बचती थी।

वस्तुतः यह सिल्ली ठीक २०० इंच की नहीं, बल्कि २०१ इंच व्यास की है। इसकी एक महीने की घिसाई में एक टन शीशा निकल गया, परन्तु शेष सेर भर शीशे की घिसाई में वर्षों समय लगा और यह काम अब भी जारी है। अंतिम घिसाई और पालिश में बड़ी सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है। कहीं भी शुद्ध परवलयाकार रूप से इंच के लाखवें भाग से अधिक अन्तर नहीं रहना चाहिए! यह काम ऐसे मकान में किया जा रहा है, जहाँ का तापक्रम बराबर एक समान रक्खा जाता है। कोई भी व्यक्ति शीशे के बहुत पास नहीं जाता, क्योंकि शरीर की गरमी से दर्पण के किसी एक भाग के तापक्रम के बढ़ने की



ढाले जाने के बाद दूरदर्शक की भीमकाय दर्पण-सिल्ली
यह सिल्ली के पैंदे या पीठ की सतह का दृश्य है, जिस ओर पुश्ते बने हैं।



पासाडेना के केलिफ़ोर्नियन इंस्टीट्यूट के कारख़ाने में विशेष यंत्रों द्वारा २०० इंच व्यास की बृहत् सिल्ली की घिसाई की जा रही है।

इस कार्य के लिए 'कार्बोरंडम पाउडर' नामक एक बुकनी काम में लाई जाती है, जो प्रायः एक पाउंड शीशे की घिसाई में लगभग पाउंड भर ख़र्च होती है।

चाँदी की क़लई से अधिक चमकीली और स्थायी होगी।

आरोपण

इधर तो दर्पण की आकृति ठीक की जा रही थी, उधर इसका आरोपण भी तैयार हो रहा था। दूरदर्शक की नली और उसके गुंबद को छोटा ही रखने के विचार से दर्पण का नाभ्यंतर (फोकस) अपेक्षाकृत छोटा ही रखा गया है। इससे मंद प्रकाश की नीहारिकाओं के फ़ोटोग्राफ़ लेने में भी सहायता होगी। फ़ोटोग्राफ़ी जाननेवाले इस बात को अच्छी तरह समझ सकेंगे। छोटे नाभ्यंतर के कारण इस दर्पण का अपर्चर (छिद्र) फ़ ३·५ होगा; जबकि १०० इंचवाले दूरदर्शक का अपर्चर फ़ / ५ है। १०० इंचवाले दूरदर्शक के आरोपण में यह अवगुण है कि उससे ध्रुव के पास के तारे नहीं देखे जा सकते। परन्तु २०० इंचवाले दूरदर्शक में यह त्रुटि भी न रहेगी, क्योंकि उत्तरी ध्रुव की ओर वाला धुराधार घोड़े की नाल के आकार का बनाया गया है और इस प्रकार बीच के रिक्त स्थान में दूरदर्शक को लाकर ध्रुवतारा भी देखा जा सकेगा। निरीक्षण करनेवाले ज्योतिषी के लिए किसी चौकी की आवश्यकता नहीं रहेगी, क्योंकि आरोपण इतना दृढ़ बनाया गया है कि ज्योतिषी बराबर दूरदर्शक में ही बैठ सकेगा। इसके लिए नली के सिरे पर एक खोखला बेलनाकार गृह रहेगा। अवश्य ही, इससे कुछ प्रकाश

आशंका रहती है, जिससे आकार में फ़र्क़ आ सकता है!

आकृति ठीक हो जाने के बाद यह सिल्ली कुल ४ इंच मोटी रह जायगी। इसमें पुश्तों की मोटाई सम्मिलित नहीं है। माउंट विल्सन के १०० इंच वाले दूरदर्शक का दर्पण १३ इंच मोटा है। पतला होने के कारण इस नवीन दर्पण पर असम तापक्रमों का प्रभाव कम पड़ेगा। पीठ पर मधुमक्खियों के छत्ते के समान दिखलाई पड़नेवाले पुश्तों से केवल यही लाभ नहीं होगा कि दर्पण सुदृढ़ रहेगा, बल्कि पीछे के कोष्ठों में इस्पात की अँगुलियाँ रहेंगी जो दर्पण को कई स्थानों से थोड़ा-थोड़ा सहारा देकर उठाए रहेंगी।

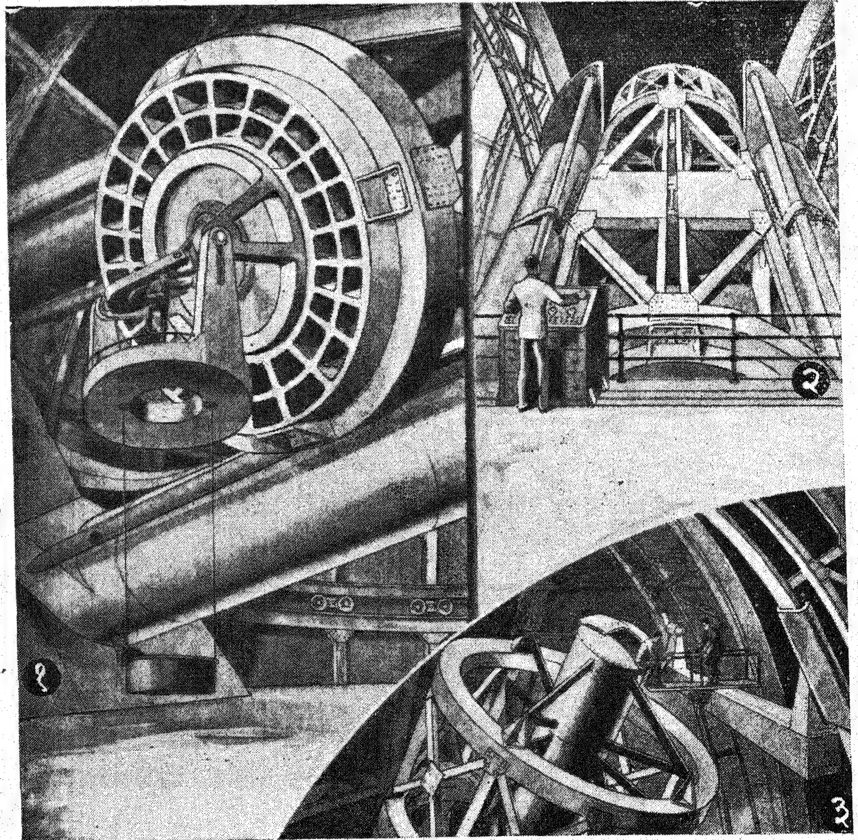
अंत में दर्पण पर अल्युमिनियम की क़लई की जायगी। इसके लिए इसे भीमकाय वायुशून्य कोठे में रखा जायगा। सब हवा निकाल लेने के बाद बिजली से कोठे के भीतर थोड़ी-सी अल्युमिनियम को इतना गरम किया जायगा कि वह वाष्प हो जायगी और सिल्ली पर उसकी बहुत पतली तह चढ़ जायगी। यह

रुक जायगा, परंतु यदि यहाँ कोई दर्पण रखा जाता, जैसा अन्य दूरदर्शकों में रहता है, तो उससे भी इतना ही प्रकाश कटता।

दूरदर्शक की नली दोनों सिरों पर गोल परंतु बीच में चौकोर है। बीच का भाग २२ फ़ीट × २२ फ़ीट की नाप का है और लंबाई ४४ फ़ीट है। यह बड़े पुलों की तरह इस्पात की धरनों और पत्तरों से बना है। इसकी तौल २००० मन है और यह अत्यंत दृढ़ है।

आरोपण का सबसे बड़ा अवयव वह 'धुराधार' है जो नाल की आकृति का है। इसका व्यास ४६ फ़ीट है और मोटाई ४ फ़ीट! संसार भर की किसी भी मशीन में इतना बड़ा धुराधार नहीं लगा है!! (मशीनों के उस भाग को जिस पर किसी धुरी का सिरा टिका रहता है धुराधार कहते हैं।) सारी दुनिया में केवल एक ही मशीन थी जिस पर इतने बड़े धुराधार को चढ़ाकर खरादा और चिकना किया जा सकता था और वह थी पिट्सबरा नामक स्थान में। वहीं पर यह भाग बना। इसकी सतह गणित-सिद्ध आकार से कहीं भी ०·०००३ इंच से अधिक अशुद्ध नहीं है। यह अशुद्धि इतनी न्यून है कि बिना अच्छे सूक्ष्मदर्शक यंत्र के इसका पता ही नहीं चल सकता। ऐसी सचाई केवल अच्छी घड़ियों में ही देखने में आती है!

दूरदर्शक के चल भाग की तौल १२००० मन है, इसलिए उसको सचाई से चलाने के लिए यह अत्यंत आवश्यक था कि किसी प्रकार घर्षण की मात्रा बहुत कम कर दी जाय। बहुत अनुसंधान के बाद यही निश्चय हुआ कि बॉल-बेयरिंग या पारे में तैरते हुए ढोलों का उपयोग न करके तेल की गद्दियों का उपयोग किया जाय। इस योजना के अनुसार प्रत्येक गद्दी के बीच में एक छेद रहेगा और इस छेद से २५० पाउंड प्रति वर्ग इंच के चाप (दबाव) से तेल बराबर निकला करेगा। इस प्रकार वस्तुतः दूरदर्शक का अधिकांश बोझ तेल पर उठा रहेगा। फलतः वह इतनी सुगमता से घूम सकेगा कि नली को पकड़कर घुमाने में कुल उतना ही बल लगेगा, जितना २ सेर बोझ उठाने में। यदि बॉल-बेयरिंग का उपयोग किया जाता तो इससे



(१) दूरदर्शक की बृहत् नली का निचला सिरा। यहीं एक लटकते हुए मंच पर वेध करनेवाले के बैठने का स्थान रहेगा। उसको नीचे से ऊपर ले जाने के लिए एक झूलेनुमा 'लिफ़्ट' का प्रबंध रहेगा। (२) दूरदर्शक के विविध भागों को घुमाने-फिरानेवाला योंही एक स्थान पर खड़े-खड़े महज़ बटन दबाकर अपना कार्य करता रहेगा; (३) दूरदर्शक की बृहत् नली का ऊपरी सिरा, जिसमें फ़ोटो-प्लेट का नियंत्रण करनेवाले ज्योतिषी के लिए स्थान रहेगा। आने-जाने का रास्ता गुंबद की दीवार से नली के सिरे तक पहुँच सकनेवाले एक पुल द्वारा होगा।

लगभग साढ़े चार सौ गुना बल लगाना पड़ता।

चालक घड़ी और सहायक यंत्र

साधारण दूरदर्शकों को चलाने के लिए घड़ियाँ लगी रहती हैं, परंतु २०० इंच वाला दूरदर्शक बिजली की मोटर से चलेगा, जिसके वेग का शासन स्फटिक के 'क्रिस्टल ऑसिलेटर' नामक यंत्र से होगा, जिसमें एक सेकंड में ५०,००० बार दोलन होता है। अपने वायुमंडल के कारण उत्पन्न विचलनों और अन्य दोषों के निवारण के लिए एक अत्यंत आश्चर्यजनक यंत्र बनाया गया है जो आपसे आप वेग को आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक कर देता है। गुंबद भी उचित वेग से घूमता हुआ चलेगा। दूरदर्शक की सहायता के लिए तरह-तरह के युक्तिपूर्ण यंत्र बनाये गए हैं, पर उनका वर्णन यहाँ संभव नहीं है। केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि इन यंत्रों में विद्युत्-संचालन के लिए कुल १०० मील लंबा तार लगा है!

सहायक दर्पणों के उपयोग से प्रधान दर्पण का नाभ्यंतर तीन गुना और नौ गुना बढ़ाया जा सकता है। इसके लिए प्रधान दर्पण के बीच में ४० इंच व्यास का छेद कर दिया गया है। प्रधान दर्पण पर पड़नेवाला प्रकाश ऊपर जाकर नली के सिरे पर रखे उन्नतोदर दर्पण पर पड़ता है। वहाँ से प्रकाश फिर प्रधान दर्पण की ओर लौटता है और बीचवाले छेद के मार्ग से बाहर निकल आता है। वहीं आकाशीय पिंड का प्रतिबिंब बनता है। तीव्र प्रकाशवाले आकाशीय पिंडों का फ़ोटो खींचने के लिए यही प्रबंध अधिक उत्तम पड़ता है। वर्णपट-चित्रण के लिए प्रकाश को गौण दर्पणों की सहायता से खोखली धुरी के भीतर से निकाल लाते हैं। ये दर्पण ऐसी स्थितियों में रहते हैं कि अंत में प्रकाश बराबर एक ही दिशा से आता है, चाहे पिंड आकाश के किसी कोने में हो।

सब नवीन डिज़ाइनों की जाँच पहले से ही कर ली गई थी, इसके लिए पहले दशमांश पैमाने पर दूरदर्शक का एक नमूना भी बना लिया गया था और उसके अनुभव के आधार पर सोचे गए डिज़ाइनों में कई एक परिवर्त्तन करना पड़े।

दूरदर्शक-गृह

बड़े दूरदर्शक के संस्थापन के लिए उचित स्थान को बड़ी सावधानी से चुनना पड़ता है। निर्वाचित स्थान का वायुमंडल बारहों मास अत्यंत स्वच्छ रहना चाहिए। बादलों से भी कोई रुकावट नहीं पड़नी चाहिए। तापक्रम में, दिन और रात, या जाड़े और गरमी में, विशेष अंतर नहीं पड़ना चाहिए। पास में कोई ऐसा शहर नहीं रहना चाहिए जिसके प्रकाश से रात्रि के समय मंदतम तारों के देखने में कोई असुविधा हो। साथ ही, यह गृह ऐसे बीहड़ स्थान में भी नहीं होना चाहिए जहाँ आवश्यक सामग्री के पहुँचने में कठिनाई हो। यह स्थान भूमध्य-रेखा से बहुत दूर नहीं रहना चाहिए, क्योंकि बहुत उत्तर या दक्षिण के स्थानों से विपरीत गोलार्द्ध के तारों का अधिकांश दिखलाई नहीं पड़ता। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए पाँच वर्षों की खोज के बाद माउंट पालोमर नामक स्थान इस महान् यंत्र की प्रस्थापना के लिए चुना गया। यह स्थान समुद्र से ५,६००फ़ीट की ऊँचाई पर है और पासाडेना से १२५ मील की दूरी पर स्थित है।

इस दूरदर्शक-गृह का गुंबद चौदह मंज़िले मकान के बराबर ऊँचा होगा। सरदी-गरमी से विशेष रक्षा करने की शक्ति प्रदान करने के लिए गुंबद दोहरा बनाने की योजना की गई है। इन दोनों गुंबदों के बीच ४ फ़ीट की जगह होगी। दोनों गुंबद अल्युमिनियम के रंग से रँगे जायँगे, जिसमें वे धूप से अधिक गरम न हो पाएँ। गुंबद की तौल लगभग २५ हज़ार मन कूती गई है। तो भी यह इतनी आसानी से घूमता रहेगा कि ज़रा भी थरथराहट नहीं उत्पन्न होगी। यह मोटर-लॉरियों की तरह चार-चार पहिए-वाली ३२ गाड़ियों पर आश्रित रहेगा। ये गाड़ियाँ पूर्णतया समतल पटरियों पर चलेंगी। इनको चलाने के लिए नवीन ढंग का उपयोग किया जायगा। साढ़े सात-सात अश्वबल की चार मोटरें हवा-भरे रबड़ के पहिए चलाएँगी। ये पहिए गुंबद को दबाए रहेंगे और जब पहिए घूमेंगे तो गुंबद भी घूमेगा। इस प्रकार गुंबद इतनी सुगमता और शांति से घूमेगा कि बिना सूक्ष्म जाँच के पता ही नहीं चलेगा कि वह चल रहा है या नहीं।

दूरदर्शक-गृह की निर्माण-योजना में दर्शक जनता का भी ध्यान रखा गया है। इस हेतु गुंबद के भीतर शीशे से बंद एक बारजा लगाने की योजना की गई है जिसके भीतर से लोग दूरदर्शक और इसके कार्य को प्रायः हर घड़ी देख सकेंगे। भीतरी दीवारों पर ऐसे चित्र बने रहेंगे, जिनसे लोग समझ सकेंगे कि दूरदर्शक से कैसे और क्या काम होता है।

निस्संदेह यह दूरदर्शक आधुनिक विज्ञान की महान् शक्ति का द्योतक है। इससे चंद्रमा इतना बड़ा दिखलाई पड़ेगा मानों वह २४ मील पर हो! साथ ही अरबों-खरबों नए तारे भी दिखलाई पड़ेंगे, और लाखों नवीन नीहारिकाएँ मनुष्य की दृष्टि-परिधि में आ सकेंगी। कौन कह सकता है कि अन्त में इससे क्या-क्या नवीन परिणाम निकलेंगे!

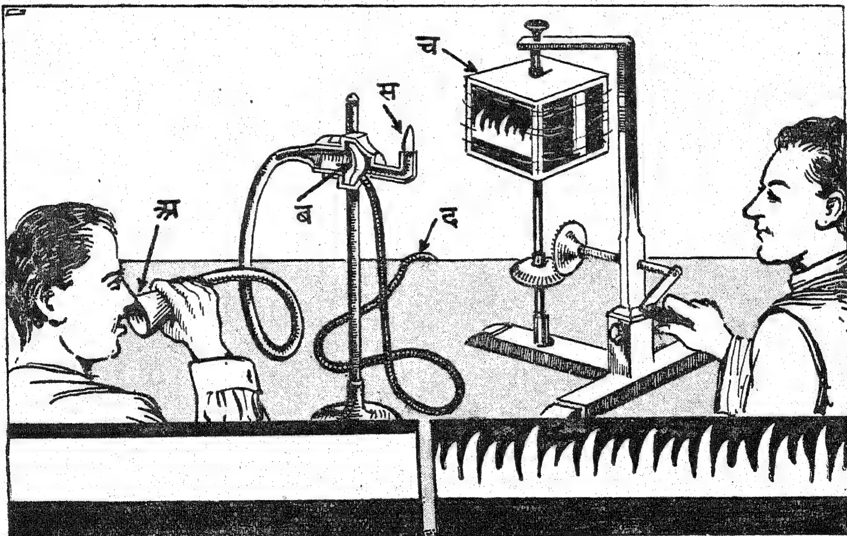


ध्वनिमय जगत्

हमारे प्राचीन मनीषियों ने तो इस निरंतर गतिशील ब्रह्माण्ड में व्याप्त आहत और अनाहत ध्वनि या नाद की महान् शक्ति और सत्ता की अनुभूति कर उसे ब्रह्म का ही एक रूप उद्घोषित कर दिया था—वे 'नाद-रूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः' कहकर उसकी वंदना करते थे। आइए देखें, आधुनिक वैज्ञानिक की दुनिया में उसकी क्या परिभाषा की जाती है और उसे कितना महत्त्व प्राप्त है !

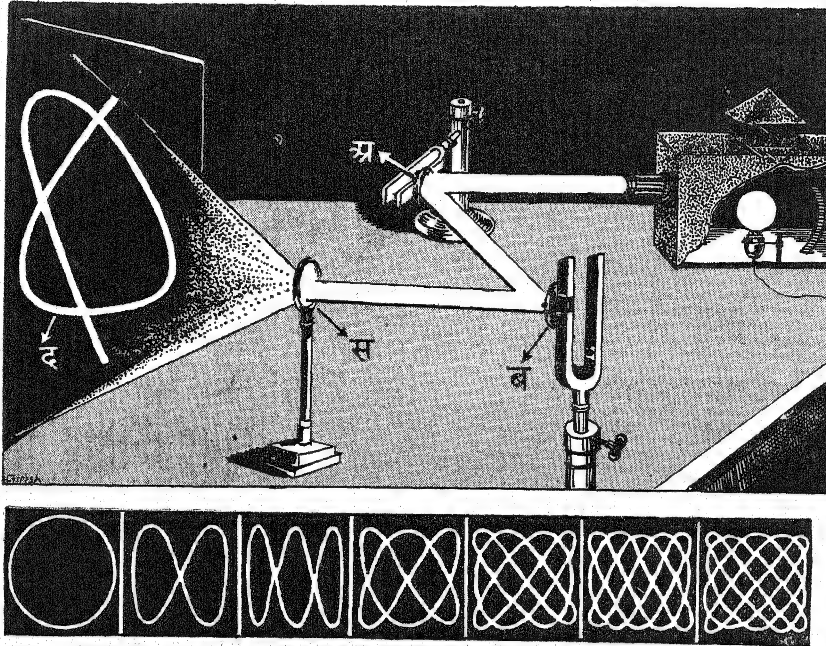
हम ध्वनि के संसार में रहते हैं। नवजात शिशु अपनी माता को शब्द के सहारे ही सबसे पहले पहचानता है। स्वयं अपनी आवश्यकताओं का ज्ञान भी वह रोकर-चिल्लाकर दूसरों को कराता है। आदि काल से ही मनुष्य ने शब्द के सहारे अन्य व्यक्तियों से अपना नाता जोड़ा। उसने आह्लाद, शोक, विस्मय आदि भावोन्मादों के प्रदर्शन के लिए शब्दों का ही आश्रय लिया। हमें कुछ ध्वनियाँ सुरीली और कर्णप्रिय लगती हैं तो कुछ अत्यन्त कटु। कुछ ध्वनियों के हम इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि वे हमारे ज्ञान-तन्तुओं पर विशेष प्रभाव नहीं डालतीं। हम डाकगाड़ी में बेहद खड़खड़ाहट और खटर-पटर होते रहने पर भी रात को थोड़ी देर में ही ख़र्राटे भरने लग जाते हैं, किन्तु जहाँ गाड़ी स्टेशन पर रुकी कि खटर-पटर बन्द होते ही हमारी नींद खुल जाती है !

अवश्य ही हमारे मन में ध्वनि के सम्बन्ध में अनेकों प्रश्न उठते हैं। ध्वनि वास्तव में है क्या ? यह कैसे उत्पन्न होती है ? यह हमारे कानों तक कैसे आती है तथा इसकी अनुभूति हमें किस प्रकार होती है ? आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि ध्वनि की बाह्य जगत् में कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। पदार्थ जगत् के कम्पन जब भौतिक साधनों द्वारा हमारे मस्तिष्क में पहुँचते हैं तब हमें ध्वनियों का बोध होता है। बाह्य जगत् के कम्पन हमारे कान के परदों में भी बहुत-कुछ उसी प्रकार के कम्पन उत्पन्न करते हैं, और इन कम्पनों को हमारे मस्तिष्क के श्रवण-ज्ञानतन्तु तुरन्त ग्रहण कर लेते हैं।



ध्वनि द्वारा दीपशिखा के नृत्य का अद्भुत प्रयोग

यह प्रयोग पहलेपहल कोनिग नामक व्यक्ति ने किया था, इसीलिए उसके नाम पर यह मशहूर है। स्पष्टीकरण के लिए पृ० २१७१ का मैटर पढ़िए।



ट्यूनिंग फार्कों का प्रयोग और लिसाजाऊ की आकृतियाँ
(प्रयोग के स्पष्टीकरण के लिए देखिए पृष्ठ २१७२ का मैटर)

ध्वनि का बोध करानेवाले ये कम्पन किसी भी भौतिक पदार्थ में उत्पन्न किए जा सकते हैं— पानी, हवा, लकड़ी, लोहा आदि सभी पदार्थों में ध्वनि-बोधक कंपन का सृजन हो सकता है। अवश्य ही इनके भौतिक गुणों की विभिन्नता के कारण इनकी कम्पन-क्षमता भी विभिन्न मात्रा में होती है।

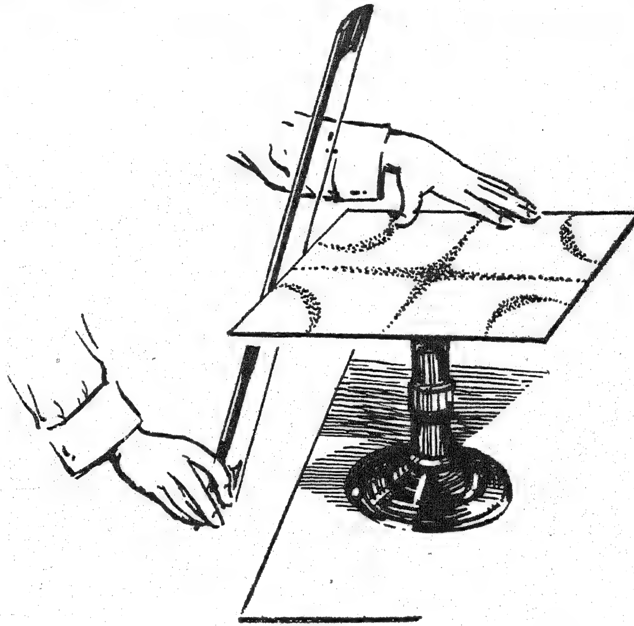
'पदार्थों में कम्पन होने से ही ध्वनियो का बोध होता है' इस तथ्य की जाँच करना कुछ अधिक दुस्तर नहीं है। सितार के तार में उँगली से कम्पन पैदा करके ही तो हम सुरीली ध्वनि की सृष्टि करते हैं। तबले और नगारे पर कसे हुए चमड़े पर चोट मारने पर वह थर्राकर कम्पन करने लगता है, और तभी हमें ध्वनि सुनाई पड़ती है। तबले पर कसे हुए चमड़े पर सरकंडे के गूदे की नन्हीं-नन्हीं गोलियाँ रख दीजिए। एक बार तबले पर थाप देने पर ये गोलियाँ देर तक उस पर उछलती रहेंगी। सितार को लिटा दीजिए और उसके तार पर पतले काग़ज़ का एक छोटा-सा टुकड़ा मोड़कर इस प्रकार रखिए कि तार के दोनों ओर उसके कुछ भाग नीचे को लटकते रहें। तार पर उँगली से चोट देने पर काग़ज़ देर तक उस पर उछलता-कूदता रहेगा। मन्दिरों में बजनेवाले घण्टे को ले लीजिए। मुँगरी से चोट करने पर उसमें से ज़ोरों की ध्वनि उत्पन्न होती है। सावधानी के साथ ज़रा अपनी नाक को घण्टे की सतह से छुलाइए—उसकी कम्पन का आप स्पष्ट अनुभव करेंगे। ध्वनि-उत्पादक के कम्पन के बन्द होते ही ध्वनि भी लुप्त हो जाती है। घण्टे पर चोट देकर उसे फ़ौरन् ही दोनों हाथों से कसकर थाम लीजिए—आवाज़ उसी क्षण बन्द हो जायगी।

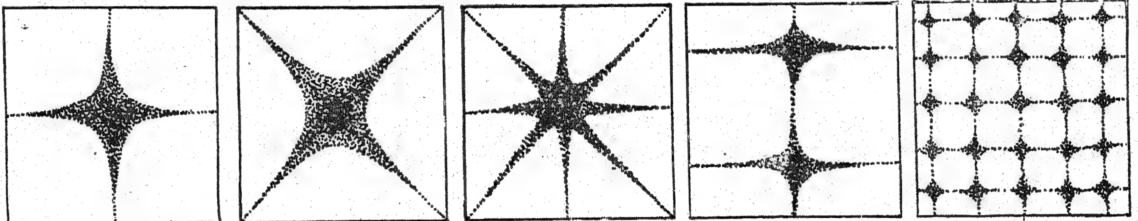
ध्वनि-उत्पादक की कम्पन की गति प्रति सेकण्ड कम-से-कम १६ होनी चाहिए तभी मनुष्य को ध्वनि का बोध हो सकता है। कुछ विशिष्ट प्राणियों में ध्वनि की अनुभूति करने की क्षमता मनुष्य की अपेक्षा अधिक होती है और ये १६ बार प्रति सेकण्ड से कम कम्पन करनेवाले पदार्थों द्वारा उत्पन्न हुए उद्वेलन का भी ध्वनि के रूप में अनुभव कर सकते हैं। उदाहरण के लिए एक पतली बेंत की छड़ी लेकर उसे कँपकपाइए। कम्पन की गति यदि धीमी हुई तो हमें किसी प्रकार की ध्वनि नहीं सुनाई पड़ेगी, किन्त कम्पन की गति के बढ़ाते ही स्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ने लग जाती है। अनुभूति-योग्य ध्वनि के लिए कम्पन की महत्तम सीमा प्रति सेकण्ड २०,००० है। इससे अधिक कम्पन होने पर हमारे कान उससे उत्पन्न हुई ध्वनि को नहीं ग्रहण कर पाते। मच्छर की भनभनाहट भी उसके पंखों के कम्पन के कारण उत्पन्न होती है। स्वयं हमें बोलते समय अपने हलक़ के अन्दर के स्वर-रज्जुओं में कम्पन उत्पन्न करना होता है—इन स्वर-रज्जुओं को तानकर हम उनकी कम्पन-गति को घटा-बढ़ा सकते हैं, और ऐसा करने से इच्छानुसार तीव्र या कोमल स्वर हम उत्पन्न कर सकते हैं। उच्च श्रेणी के गवैये अपने स्वर-रज्जुओं पर इस दृष्टि से पूरा अधिकार रखते हैं। जलतरंग का एक प्याला लीजिए और इतना पानी डालिए कि बाँस की तीली से उस पर चोट करने पर उसमें से कोई मधुर स्वर उत्पन्न हो। अब एक सरकंडे के गूदे की एक पतली गोली उसके पास इस

प्रकार लटकाइए कि वह प्याले की कोर को छूती रहे। प्याले पर चोट करते ही गोली प्याले की कोर की कम्पन के कारण दूर छटक जाती है।

सच तो यह है कि आधुनिक युग के वैज्ञानिकों ने ध्वनि-उत्पादकों के कम्पन को भी स्पष्टतया दृष्टिगम्य कराने में सफलता प्राप्त की है। इस प्रकार का सर्वप्रथम प्रयास १८६२ में लन्दन-प्रदर्शिनी में रुडल्फ़ कोनिग ने किया था। एक लम्बी तुरही-सरीखे वाद्ययन्त्र 'अ' के दूसरे छोर 'ब' पर उसने झिल्ली का हलका परदा लगाया। परदे की दूसरी तरफ़ गैस की लौ 'स' जल रही थी, जिसमें नली 'द' से गैस आ रही थी। सामने ही कुछ दूरी पर एक चौपहल दर्पण 'च' रक्खा था, जिसे हाथ से या विद्युत् द्वारा नचा सकते थे। दर्पण जब तेज़ी के साथ नाचता था, उसमें गैस की दीप-शिखा साधारणतः समान ऊँचाई की दीखती थी। किन्तु तुरही में फूँक मारने पर तुरही के झिल्लीवाले परदे में कम्पन उत्पन्न होता और तदनुसार गैस की लौ भी ऊँची-नीची होकर काँपती थी। इस वक्त नाचते हुए दर्पण में लौ का प्रतिबिम्ब भी दन्दानेदार-सा कटा हुआ दिखलाई देता, जैसा कि चित्र की निचली कोर पर परिवर्द्धित रूप में दर्शाया गया है (दे० पृ० २१६६ का चित्र)।

कम्पन करनेवाले पदार्थ पर यदि कोई हलकी-सी बुकनी फ़ैला दी जाय तो कम्पन के कारण यह बुकनी विचित्र आकृतियों के रूप में उस पदार्थ के धरातल पर एकत्रित हो जाती है। काँच का एक चौकोर टुकड़ा लीजिए, जो मध्यबिन्दु पर एक स्तम्भ (Stand) में कसा हुआ हो। इस पर समान रूप से पुष्प-पराग की बुकनी बिछा दीजिए। किन्तु बुकनी की तह बहुत मोटी न होने पाए। अब बेले की धन्वा की ताँत काँच की कोर पर रगड़िए और साथ ही काँच के धरातल के किनारे के किसी बिन्दु पर अपनी उँगली रख दीजिए। आप देखेंगे, पराग की बुकनी काँच के धरातल पर एक विशेष आकृति बना लेती है। काँच के धरातल को भिन्न-भिन्न स्थान पर छूने से ऐसी विभिन्न प्रकार की चित्राकृतियाँ बन जाती हैं। इसका कारण यह है कि काँच का टुकड़ा जब कम्पन करता है तो धरातल पर विशेष रेखाओं में



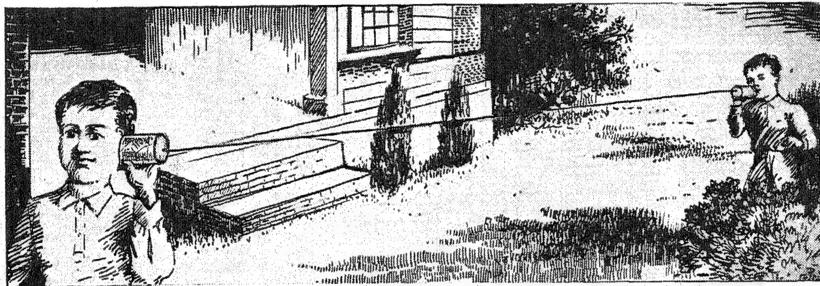


बेला की धन्वा द्वारा उत्पन्न अद्भुत आकृतियाँ जो 'चैल्डनी की आकृतियाँ' कहलाती हैं

ये विभिन्न आकृतियाँ स्तंभ पर टिकी हुई काँच या पीतल की थाली पर बारीक बुकनी बखेरकर थाली की कोर को बेला की धन्वा से रगड़ने, साथ ही एक हाथ की उँगलियों से उसे छुए रखने पर उस बुकनी में उत्पन्न की जा सकती हैं (देखो पृष्ठ २१७१-२१७२ का मैटर)।

स्थित काँच के कण पूर्णतया स्थिर रहते हैं, पर शेष कण अवश्य कम्पन करते हैं। अतः अन्य स्थानों से हटकर पराग इन्हीं रेखाओं पर एकत्रित हो जाता है। काँच तथा पीतल की थाली के कम्पन का सर्वप्रथम पता एक जर्मन वैज्ञानिक चैल्डनी ने लगाया था। अतः ये विभिन्न आकृतियाँ 'चैल्डनी की आकृतियों' के नाम से पुकारी जाती हैं (दे० पृ० २१७१ का चित्र)। तबले या ढोल पर मढ़े हुए चमड़े पर भी कम्पन उत्पन्न करके इस प्रकार की आकृतियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। इस दशा में तबले के चमड़े में कम्पन उत्पन्न करने के लिए उसे छूने की भी आवश्यकता नहीं। उसके निकट घण्टी बजाइए—घण्टी के स्पर्श से हवा में कम्पन उत्पन्न होती है। यह कम्पन करती हुई हवा तबले के चमड़े में हलकी कम्पन उत्पन्न करने में समर्थ होती है।

ध्वनि-उत्पादक के कम्पन को दृष्टिगम्य कराने के लिए 'ट्यूनिंग फ़ार्क' नामक एक यंत्र की भी सहायता ली जा सकती है। ध्वनि के अध्ययन के लिए ट्यूनिंग फ़ार्क एक अत्यन्त उपयोगी यंत्र है। वास्तव में ट्यूनिंग फ़ार्क काँसे या इस्पात की एक छड़-मात्र होता है, जो बीचोबीच में चिमटे की तरह मोड़ दी गई होती है। मोड़ का यह मध्यबिन्दु एक मज़बूत स्तम्भ से जुटा होता है, जो इसे पकड़ने के लिए हैन्डल का काम देता है। प्रयोग के लिए दो ट्यूनिंग फ़ार्क लेते हैं। इन पर पृ० २१७० के चित्रानुसार दो छोटे दर्पण (अ और ब) आरूढ़ करा दिए जाते हैं। इनमें से एक को सीधा खड़ा करके स्तम्भ में कस देते हैं और दूसरे को मेज़ के धरातल के समानान्तर रखकर स्तम्भ पर कसते हैं—इस प्रकार कि इनके दर्पण एक-दूसरे के आमने-सामने रहें। तीव्र प्रकाश की श्वेत किरणें आड़े ट्यूनिंग फ़ार्क के दर्पण से परावर्त्तित होकर खड़े ट्यूनिंग फ़ार्क के दर्पण पर पड़ती हैं। वहाँ से ये एक लेंस 'स' से होकर सफ़ेद पर्दे पर पड़ती हैं। अब यदि आड़े ट्यूनिंग फ़ार्क की टाँगों को रबड़ की हथौड़ी से चोट मारकर कम्पित किया जाय तो पर्दे पर आलोक-किरण का धब्बा एक आड़ी रेखा में इधर से उधर नाचता दिखाई देगा और हमें पर्दे पर धवल आलोक की एक चटकीली तथा मोटी रेखा 'द' दिखेगी। अब यदि खड़े ट्यूनिंग फ़ार्क को भी इस प्रकार कम्पित कराया जाय कि दोनों में कम्पन एक साथ ही आरम्भ हो तो पर्दे पर पड़नेवाला आलोक ज्यामिति की विविध सुन्दर आकृतियाँ बनाएगा, जैसी कि चित्र के निम्न भाग में अलग से दिखाई गई हैं। ट्यूनिंग फ़ार्क की प्रति सेकण्ड की कम्पनगति के बदलने से ये आकृतियाँ भी बदली जा सकती हैं। लिसाजाऊ नामक एक वैज्ञानिक ने इस प्रकार बनी हुई आकृतियों का सर्वप्रथम विस्तृत अध्ययन किया था, अतः ये आकृतियाँ लिसाजाऊ के ही नाम से प्रसिद्ध हैं (जानकारी के लिए दे० पृ० २१७० का चित्र)।



बच्चे प्रायः इसी प्रकार सिगरेट की टिनों के बीच लंबा धागा तानकर इस नक़ली टेलीफ़ोन द्वारा आपस में दूर से बातचीत किया करते हैं। यह अनुकूल माध्यम में ध्वनि-तरंगों की गति के नियम के कारण ही संभव होता है।

साधारणतः हम इस बात का अनुभव नहीं कर पाते कि ध्वनि को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में कितना समय लगता है। कमरे में बातें करते समय हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे मुँह से शब्द निकलते ही दूसरे व्यक्ति उसे तुरन्त सुन लेते हैं। किन्तु वास्तव में बात ऐसी है नहीं। फ़ुटबाल के खेल में जब हम दूर खड़े होकर खेल देखते हैं तो फ़ुटबाल में 'किक' लगाने की धप की आवाज़ हमें 'किक' लगने के कुछ देर बाद ही सुनाई पड़ती है—अवश्य ही इसका कारण यह है कि 'किक' लगते समय उत्पन्न होनेवाली ध्वनि हम तक पहुँचने में आलोक की अपेक्षा अधिक समय लेती है। प्रायः ध्वनियाँ हवा में से होकर हमारे कान तक पहुँचती हैं। ध्वनि की कम्पन को हवा में से होकर आगे बढ़ने में समय लगता है, ठीक उसी प्रकार जिस तरह एक लम्बी छल्लेदार कमानी के एक छोर पर धक्का देने से इस धक्के द्वारा उत्पन्न हुआ कम्पन कुछ देर उपरान्त दूसरे छोर तक पहुँच पाता है। बन्दूक़ की गोली की गति हवा में ध्वनि

की गति से कहीं तेज़ होती है। अतः शिकार को गोली लग चुकने के बाद बन्दूक़ दगने का शब्द सुनाई पड़ता है, अन्यथा वह पहले ही भाग जाता। आलोक-तरंगों की भाँति ध्वनि भी वैकुअम को पार कर आगे नहीं बढ़ सकती। ध्वनि को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए भौतिक माध्यम का सहारा अवश्य चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि वह माध्यम हवा ही हो। लकड़ी, पानी, काँसा, लोहा, गैस आदि कोई भी पदार्थ ध्वनि-वाहक बन सकता है। इस सिलसिले में आप स्वयं एक रोचक प्रयोग कर सकते हैं। सात-आठ फ़ीट लम्बे किसी सूखी लकड़ी के लट्ठे के एक छोर पर आप अपने कान लगाइए और दूसरे छोर पर अपने मित्र को नाख़ून से लकड़ी कुरेदने को कहिए। कुरेदने की आवाज़ आपको स्पष्ट सुनाई पड़ेगी। प्रयोग को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक नहीं कि लकड़ी का दूसरा सिरा ज़ोर से ही कुरेदा जाय। रसोईघर से लोहे या पीतल का कलछुला उठा ले आइए। उसे मेज़ पर रखकर उसके एक सिरे को चाक़ू से कुरेदिए। अपने कान काफ़ी निकट रखने पर भी आपको किसी प्रकार का शब्द सुनाई न पड़ेगा। अब कलछुले के एक सिरे को अपने कान में लगा लीजिए। चाक़ू से दूसरे सिरे को कुरेदने पर करकराहट का कर्कश शब्द सुनाई पड़ेगा। चूँकि इस बार कलछुले की डण्डी में से होकर ध्वनि आपके कानों तक पहुँचती है, अतः ध्वनि की शक्ति का विशेष ह्रास नहीं हो पाता। आपने बच्चों को रस्सी के बने हुए नक़ली टेलीफ़ोन से एक दूसरे के साथ बातचीत करते हुए देखा होगा। ऐसा टेली-फ़ोन सिगरेट की टिन, मोमी काग़ज़ और पतले धागे की सहायता से बनाया जा सकता है। सिगरेट की दो टिनों के पेंदे और ढक्कन हटा दीजिए और उन पर एक ओर मोमी काग़ज़ ख़ूब तानकर बाँध दीजिए। अब काग़ज़ के बीचोबीच नन्हा-सा सूराख़ करके उसमें धागे का एक सिरा गाँठ लगाकर डाल दीजिए ताकि ज़ोर पड़ने पर धागा उसके अन्दर से निकलने न पाए। इसी प्रकार धागे का दूसरा छोर दूसरे टिन के अन्दर डाल दीजिए। धागे की लम्बाई तीस-चालीस गज़ ली जा सकती है। अब एक टिन में मुँह लगाकर धीरे-धीरे बात कीजिए,





पृथ्वी में भी ध्वनि की कंपन की लहरें तीव्र गति से गमन करती हैं। इसका अनुभव भूचाल आनेवाले प्रदेशों में होता है। कहते हैं, भूचाल-केन्द्रों से आती हुई कंपन की गड़गड़ाहट घोड़े, गाय आदि चौपाए अपनी तीक्ष्ण श्रवण-शक्ति के बल पर मनुष्य से पहले ही सुन लेते हैं और चौकन्ने हो जाते हैं, जैसा ऊपर के चित्र में प्रदर्शित है। नीचे के चित्र में एक अमेरिकावासी 'रेड इंडियन' धरती में कान लगाकर दूर से शत्रु के घोड़ों की टाप की आवाज़ की टोह लगाते हुए दिखाई पड़ रहा है।

दूसरे टिन में कान लगानेवाले व्यक्ति को सारी बात स्पष्ट सुनाई पड़ेगी। इस प्रयोग में धागे को ताने रहना चाहिए (दे० पृ० २१७२ का चित्र)।

माध्यम का घनत्व जितना अधिक होगा, उसमें से गुज़रनेवाली ध्वनि का ज़ोर भी उतना ही अधिक होगा। रात को तकिये के नीचे यदि घड़ी दबी रह जाती है तो उसकी टिक्-टिक् इतने ज़ोर के साथ हमें सुनाई पड़ती है कि हमें नींद भी नहीं आती। तकिये के नीचे से घड़ी हटाकर उसे पास ही मेज़ पर रख देने पर घड़ी की टिक्-टिक् हमें बिल्कुल ही नहीं सुनाई पड़ती, क्योंकि हवा अपेक्षाकृत अधिक विरल माध्यम है। पानी के अन्दर भी आवाज़ हवा की अपेक्षा अधिक ज़ोर के साथ सुनाई पड़ती है। इसी कारण मछली फँसाने के लिए बंसी लगानेवाले पानी में बंसी डालते समय अत्यन्त सावधानी के साथ काम लेते हैं, ताकि पानी में किसी प्रकार की छपछपाहट का शब्द उत्पन्न न हो, अन्यथा मछलियाँ उस शब्द को सुनकर भाग जायँगी। स्नान करनेवाले टब में पानी भरकर उसमें अपने सिर को डुबाइए। टब की दीवालों पर ठक्-ठक् की आवाज़ यदि आपके मित्र करें तो आपको यह आवाज़ पानी के भीतर ही ख़ूब तेज़ सुनाई पड़ेगी।

समुद्र में डूबी हुई चट्टानों से जहाज़ों को सावधान करने के लिए पानी के अन्दर ही घण्टा बजाते हैं। चट्टान पर लंगर से बँधा हुआ एक पीपा पानी में तैरता रहता है। इस पीपे में एक विशालकाय घण्टा लगा रहता है। लहरों के धक्कों से यह पीपा बराबर हिलता रहता है, अतः घण्टा भी बजता रहता है। निकट से गुज़रनेवाले जहाज़ों के पेंदे के पास दोनों ओर माइक्रोफ़ोन लगे होते है जो पानी में डूबे रहते हैं। घण्टे की आवाज़ को ये माइक्रोफ़ोन तुरन्त ग्रहण कर लेते हैं। बारी-बारी से प्रत्येक माइक्रोफ़ोन को कान से लगाकर जहाज़ का कप्तान पता लगा सकता है कि चट्टान किस ओर है और फलस्वरूप जहाज़ को वह उस ओर नहीं जाने देता।

हमारी धरती में से भी ध्वनि की कम्पन तेज़ी के साथ हरकत करती है। भूचाल आनेवाले प्रदेशों में भूचाल के केन्द्र से चली हुई कम्पन की गड़गड़ाहट को घास चरते हुए चौपाए फ़ौरन् सुन लेते हैं और चौकन्ने होकर इधर-उधर भागने लग जाते हैं। अतः उस प्रदेश के निवासियों को आनेवाले भूचाल की मिनटों पहले सूचना मिल जाती है। घोड़े की टाप की आवाज़ भी मीलों की दूरी से धरती से कान लगाने पर सुनाई पड़ सकती है। अमेरिका के मूल निवासी 'रेड इण्डियन' अपने शत्रुओं की टोह लगाने के लिए प्रायः धरती से कान लगाकर सुनते थे कि शत्रु के घोड़ों की टाप सुनाई पड़ रही है या नहीं (दे० पृ० २१७३ का चित्र)।

उपर्युक्त दृष्टान्तों से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि ध्वनि सभी प्रकार के पदार्थों में से होकर गुज़र सकती है। कुछ माध्यम ध्वनि के अच्छे परिचालक होते हैं, कुछ अधम परिचालक। रबड़, नमदा आदि ध्वनि के अधम संचालकों की श्रेणी में आते हैं।

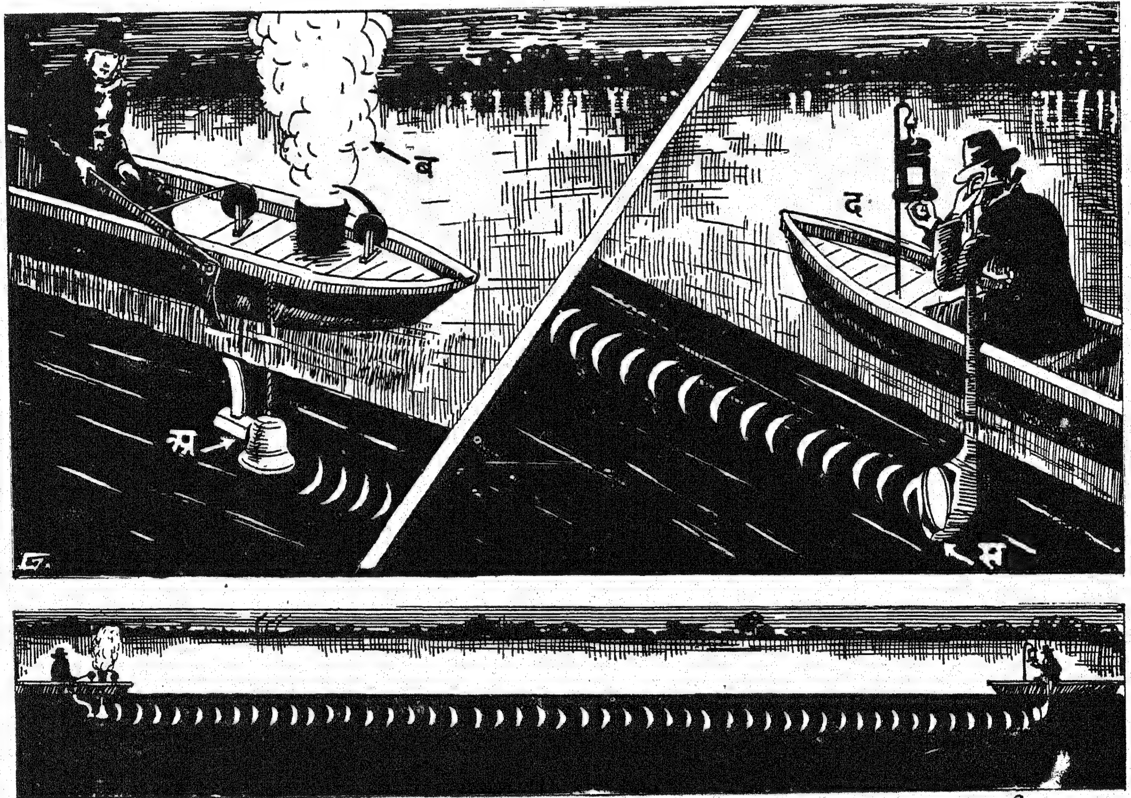
भौतिक माध्यम की अनुपस्थिति में ध्वनि एक स्थान से दूसरे स्थान को बिल्कुल ही नहीं जा सकती। इस तथ्य की जाँच करने के लिए निम्न प्रयोग किया जा सकता है। काँच के एक फ़्लास्क को लेकर उसमें दो छेदवाली रबड़ की कार्क लगा दीजिए। एक सूराख़ से काँसे की एक घण्टी लटका दीजिए तथा दूसरे सूराख़ में काँच की नली डालकर रबड़ की ट्यूब से इसका सम्बन्ध एक वैकुअम पम्प से कर दीजिए। फ़्लास्क हिलाने पर घण्टी बजती है और उसकी आवाज़ स्पष्ट सुनाई पड़ती है। वैकुअम पम्प को थोड़ी देर तक चालू रखिए। फ़्लास्क के अन्दर की हवा विरल हो जाने के कारण अब घण्टी की आवाज़ धीमी सुनाई पड़ती है। अब वैकुअम पम्प को देर तक चलाइए ताकि फ़्लास्क के अन्दर की लगभग तमाम हवा निकल जाय। इस दशा में फ़्लास्क को हिलाने पर यद्यपि घण्टी पूर्ववत् ही बजती है, किन्तु हमें उसके बजने का शब्द बिल्कुल ही नहीं सुनाई पड़ता है।

मान लीजिए, रॉकेट आदि की सहायता से आप किसी प्रकार चन्द्रमा पर पहुँच जाँय तो यदि वहाँ की हद दर्जे की ठण्ड से आपने किसी प्रकार अपनी रक्षा कर भी ली तो आप अपने मित्रों से बातचीत करने का आनन्द वहाँ न उठा सकेंगे! क्योंकि चन्द्रमा के धरातल पर हवा या अन्य कोई गैस का माध्यम मौजूद नहीं है—चन्द्रलोक में सर्वत्र पूर्ण निस्तब्धता विराजती है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, विभिन्न माध्यमों में ध्वनि की गति एक-सी नहीं होती। रेलवे-लाइन के पास बैठकर एक कान लोहे की पटरी से लगाइए और किसी दूसरे व्यक्ति से कहिए कि वह पटरी के दूसरे सिरे पर कंकड़ से चोट करे। पहले आपको एक तेज़ शब्द पटरी के सहारे सुनाई देगा और फिर अपेक्षाकृत धीमी आवाज़ हवा में से होकर आपके दूसरे कान में पहुँचेगी।

विभिन्न माध्यमों में ध्वनि की गति मालूम करने के लिए वैज्ञानिकों ने विशेष परिश्रम किया है, क्योंकि ध्वनि के सहारे समुद्र में खो गए जहाज़ का पता लगाया जा सकता है, आकाश में उड़ते हुए वायुयान की स्थिति ज्ञात की जा सकती है अथवा यह मालूम किया जा सकता है कि शत्रु की तोपें किस स्थान से गोले फेंक रही हैं। इन प्रश्नों पर बाद में विस्तृत प्रकाश डाला जायगा। अभी तो हमें देखना है कि ध्वनि की गति किस प्रकार नापी जा सकती है।

लगभग २०० वर्ष पूर्व ध्वनि की हवा में गति मालूम करने के लिए फ्रेंच वैज्ञानिकों ने सर्वप्रथम सफल प्रयास किया था। पहाड़ की दो ऊँची चोटियों पर दो तोपें रखी गईं। ये चोटियाँ एक दूसरे से ६१०४७ फ़ीट की दूरी पर थीं। रात्रि की निस्तब्धता में यह प्रयोग किया गया था ताकि तोप दगने की आवाज़ सुनने में किसी प्रकार की अड़चन न पड़े, साथ ही तोप की बारूद के विस्फोट की चिनगारी भी स्पष्ट दिखलाई पड़े। प्रत्येक चोटी पर वैज्ञानिकों की टोली 'क्रॉनोमीटर' (ठीक समय-आलेखक घड़ी) लेकर तैय्यार थी। दस-दस मिनट के अवकाश पर प्रत्येक चोटी पर तोपें १२ बार दागी गईं। प्रत्येक बार तोप दगने पर बारूद भड़कने की चमक के दृष्टिगोचर होने तथा उसकी आवाज़ के दूसरी चोटी पर सुनाई देने के बीच का समय लिख लिया गया। बारूद की चमक का आलोक इस दूरी को पार करने में नगण्य समय लेता है (स्मरण रहे आलोक की गति प्रति सेकण्ड १८६००० मील है!), किन्तु ध्वनि को इस



पानी के अंदर ध्वनि की गति मालूम करने के लिए जिनीवा-झील पर किया गया प्रयोग

ऊपर बाईं ओर एक नौका पर घंटा 'अ' पानी में लटक रहा है, उसके बजते ही मैग्नीशियम पाउडर 'ब' सुलग उठा, जिसका प्रकाश देखते ही दाहिनी ओर ४४,२३७ फ़ीट की दूरी पर स्थित दूसरी नौका में बैठे हुए वैज्ञानिक ने क्रॉनोमीटर 'द' में तुरंत समय नोट किया और तब तुरही 'स' द्वारा उसने घंटे की ध्वनि सुनने के लिए ध्यान केन्द्रीभूत किया। ध्वनि को इतनी दूर तक पानी के भीतर-ही-भीतर रास्ता तय करने में ९। सैकंड समय लगा! नीचे झील पर दोनों नौकाओं का चित्र है और लहर द्वारा ध्वनि की कंपनों की गति प्रदर्शित की गई है।

फ़ासले के तय करने में पर्य्याप्त समय लगता है। इन प्रयोगों का औसत फल निकालने पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस दूरी को तय करने में ध्वनि को ५४$\frac{3}{4}$ सेकण्ड लगते हैं। अतः ध्वनि की रफ़्तार हवा में १११८ फ़ीट प्रति सेकण्ड निकली। ध्वनि की गति आँकने के लिए दोनों ओर से तोपें इसलिए छोड़ी गई थीं कि हवा की प्रवाह-गति के कारण प्रयोग में किसी प्रकार की अशुद्धि का समावेश न हो। इस हिसाब से हवा में १ मील का फ़ासला तय करने में ध्वनि को लगभग ५ सेकण्ड लगे।

पानी के अन्दर ध्वनि अधिक तेज़ी के साथ चलती है। पानी में ध्वनि की गति मालूम करने के लिए सर्वप्रथम प्रयोग लगभग १०० वर्ष पूर्व स्विट्ज़रलैण्ड की जिनीवा झील में किया गया था। झील के दो आमने-सामने के किनारों के निकट दो किश्तियाँ पानी में स्थिर रक्खी गईं। एक किश्ती से एक भारी घण्टा पानी के अन्दर लटकाया गया था—किश्ती के इसी छोर पर लीवर के सहारे एक हथौड़ी भी लगाई गई थी जो पानी के अन्दर घण्टे के पास लटकती थी। लीवर के दस्ते की मदद से इस हथौड़ी को हिलाकर घण्टे पर ज़ोरों के साथ चोट पहुँचा सकते थे। उसी छोर पर तश्तरी में मैग्नीशियम पाउडर रखा हुआ था और एक विशेष युक्ति द्वारा जलती हुई लकड़ी का एक टुकड़ा हथौड़ी के दस्ते के हरकत करते ही मैग्नीशियम को छू लेता और वह चमक के साथ जल उठता था। दूसरे छोर पर एक वैज्ञानिक हाथ में क्रॉनोमीटर लेकर बैठा था। उसके कान में तुरही के आकार का एक यंत्र का पतला सिरा था, तथा इस यंत्र का चौड़ा मुख पानी के अन्दर इस प्रकार लटकाया गया था कि दूसरी किश्ती के घण्टे की ध्वनि से उत्पन्न हुई पानी के अन्दर की कम्पन उसके मुँह में प्रवेश कर सके। इस तुरही के चौड़े मुँह पर धातु की एक पतली चद्दर लगी थी, जो पानी के कम्पन के आघात को पाकर स्वयं कम्पन करके उसी प्रकार का शब्द उत्पन्न कर सकती थी।

इस प्रयोग के समय दूसरी किश्ती के वैज्ञानिक ने पहले तो क्रॉनोमीटर में उस समय को देखा जब उसे मैग्नीशियम की चमक दिखलाई पड़ी थी, तदुपरान्त उसने उस क्षण को नोट किया, जब उसे घण्टे की आवाज़ सुनाई पड़ी। दोनों किश्तियों के दर्मियान ४४,२३७ फ़ीट की दूरी थी, तथा उस दूरी को तय करने में ध्वनि को पानी के अन्दर ९$\frac{1}{4}$ सेकण्ड लगे थे। इस हिसाब से ध्वनि की गति पानी में ४७०८ फ़ीट प्रति सेकण्ड निकली। यह प्रयोग भी रात के अँधेरे में किया गया था। चूँकि झील का पानी स्थिर था अतः इस बात की आवश्यकता नहीं समझी गई कि ध्वनि की गति दोनों ओर से नापी जाय (दे० पृ० २१७५ का चित्र)।

ठोस पदार्थों तथा हवा के अतिरिक्त अन्य गैसों में ध्वनि की गति नापने के लिए विशेष प्रकार के प्रयोगों का सहारा लिया गया है। पर यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जा सकता। अगले किसी अध्याय में हम देखेंगे कि इनके अन्दर ध्वनि की गति कैसे आँकी गई है। इस स्थान पर हम केवल इस बात को बता देना आवश्यक समझते हैं कि ध्वनि की विभिन्न माध्यमों में गति क्या होती है। निम्नलिखित तालिका इसी उद्देश्य से दी जा रही है। तालिका के निरीक्षण से पता चलेगा कि लोहे के अन्दर ध्वनि की गति हवा की अपेक्षा १५ गुनी है।

माध्यम		ध्वनि की गति फ़ीट प्रति सेकण्ड	
हवा	(०°से० ग्रेड)	१०९०	
हाइड्रोजन	(,,)	४१६३	
आक्सीजन		१०४१	
पानी		४७१४	
सीसा		४३३१	(लगभग)
सोना		६१०७	,,
चाँदी		८५४४	,,
जस्ता		१०७५०	,,
ताँबा		१२१७२	,,
लोहा		१६८२०	,,
शीशा (काँच)		१६४१०	,,
पीतल		११४८०	,,
शाहबलूत लकड़ी		१२६२०	,,

इस तालिका में गति-मान देते समय ध्वनि की किसी विशेषता का उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि चाहे धीमी हो चाहे कर्कश, तीक्ष्ण हो या भारी, हर श्रेणी की ध्वनि किसी एक माध्यम में लगभग समान गति से ही गमन करती है। यदि ऐसा न हो तो 'आर्केस्ट्रा' में बजनेवाले विभिन्न वाद्ययंत्रों की ध्वनियाँ हमारे कानों तक पहुँचते हुए विभिन्न समय लेंगी और फलस्वरूप संगीत का सारा मज़ा किरकिरा हो जायगा। हाँ, इस क्षेत्र में किए गए नूतनतम प्रयोगों ने अवश्य इस पहलू पर विशेष प्रकाश डाला है, जिनके अनुसार प्रबल विस्फोट से उत्पन्न हुई तेज़ ध्वनि एक ही माध्यम में सामान्य ध्वनियों की अपेक्षा तीव्रतर गति से गमन करती है।



रासायनिक पदार्थों का राजा—गंधक का तेज़ाब

गंधक के तेज़ाब (सल्फ़्यूरिक ऐसिड) से हमारे अधिकतर पाठक अवश्य परिचित होंगे, किन्तु शायद उनको इस बात का अनुमान न होगा कि वह कितना उपयोगी और महत्वपूर्ण पदार्थ है। ऐसे रासायनिक उद्योग बहुत कम होंगे जिनमें गंधक के तेज़ाब का व्यवहार न होता हो। यदि हम अपनी घरेलू वस्तुओं पर ही एक दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जायगा कि गंधक के तेज़ाब ने उनमें से अधिकतर की तैयारी में अवश्य ही बहुमूल्य योग दिया है। हमारे कपड़ों के सूत को दुग्धधवल करने के लिए ब्लीचिंग पाउडर (रंग-नाशक चूर्ण) के साथ थोड़े-बहुत गंधकाम्ल का अवश्य ही व्यवहार हुआ होगा। मैले-कुचैले चीथड़-गूदड़, घास, लकड़ी अथवा रद्दी काग़ज़ से बने हुए हमारे नित्य व्यवहार में आनेवाले काग़ज़ की सफ़ेदी ब्लीचिंग पाउडर और गंधक के तेज़ाब की ही क्रिया का परिणाम है। नील आदि अनेकों कृत्रिम रंग सल्फ़्यूरिक ऐसिड के बिना नहीं बन सकते। ताँबा भी गंधक के तेज़ाब की सहायता से ही शुद्ध रूप में निकाला जाता है। जस्ता चढ़ी हुई लोहे की चादरें जस्ता चढ़ाने के पहले हलके गंधकाम्ल में ही डुबोकर साफ़ की गई थीं। आपकी घड़ियों, बाइसिकल के कुछ हिस्सों, डिब्बों, औज़ारों आदि पर निकल का मुलम्मा करने में भी गंधक का तेज़ाब व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकार ताँबे और चाँदी के मुलम्मों को करने में भी इसी ऐसिड का उपयोग होता है। आपकी दीवाल पर चूने के साथ पुता हुआ तूतिया (कॉपर सल्फ़ेट)—जिसका उपयोग ताँबे के शोधन में, उसका मुलम्मा करने में, छींट की छपाई में रंगों को पक्का करने के लिए, आलू, अंगूर आदि की फ़सलों में हानि-कारक फफूँद को नष्ट करने में, मरहम आदि कीटाणुनाशक दवाओं में, मूत्र में अथवा अन्यत्र शक्कर की उपस्थिति की परीक्षा करने में, तथा ताँबे के अन्य यौगिकों को तैयार करने में भी होता है—ताँबे पर सल्फ़्यूरिक ऐसिड की प्रतिक्रिया द्वारा ही निर्मित किया जाता है। वास्तव में केवल तूतिया ही नहीं, प्रायः सभी कृत्रिम सल्फ़ेट धातुओं अथवा उनकी भस्मों एवं उनके अन्य लवणों पर इसी ऐसिड की प्रक्रिया द्वारा बनाए जाते हैं। सल्फ़्यूरिक ऐसिड के ही लवणों का नाम सल्फ़ेट होता है। फिटकरी (पोटै-



गंधकाम्ल की जल-ग्राहकता

(१) ऐसिड और पानी के मेल से ताप का उत्पादन; (२) शक्कर और गंधकाम्ल का प्रयोग; (३) गंधक के तेज़ाब का रासायनिक जादू (विवरण के लिए देखिए पृ० २१७६-२१८१)।

शियम अलुमीनियम सल्फ़ेट अर्थात् पोटैशियम सल्फ़ेट, अलुमीनियम सल्फ़ेट और पानी के संयोग से बना हुआ लवण), जिसका उपयोग घरों में बहुधा हुआ करता है, और जो चमड़े की कमाई, काग़ज़ के निर्माण, रंगसाज़ी में रंगों को पक्का करने तथा पानी को साफ़ करने में बहुत व्यवहृत होती है; सोडियम सल्फ़ेट, जो हलके जुलाब के लिए बहुधा लिया जाता है, और जो धोनेवाले सोडा और शीशा बनाने के काम में बहुत आता है; मैग्नेशियम सल्फ़ेट (डॉक्टरों का मैगसल्फ़), जो दवाओं में जुलाब की भाँति प्रयुक्त होता है, और सूत को चिकनाने, रंगसाज़ी, चमड़े की कमाई और स्वयं गंधक के तेज़ाब के निर्माण में भी काम आता है; फ़ेरस सल्फ़ेट (कसीस) जो नीली स्याही के बनाने में काम आता है, और जिसका उपयोग रंगसाज़ी में, खेती में बेकार पौधों को नष्ट करने के लिए तथा रासायनिक प्रयोगशालाओं में भी होता है; ज़िङ्क-सल्फ़ेट, जिसका स्त्रवित जल में हलका घोल उठी हुई आँखों में डाला जाता है, और जो कपड़े की छपाई में और लिथोफ़ोन नामक सफ़ेदा के बनाने में भी काम आता है, — ये सब गंधकाम्ल के ही उपयोग से तैयार किए जाते हैं। मिट्टी के तेल अथवा पेट्रोल के शोधन में भी गंधक का तेज़ाब बहुत बड़े परिमाणों में काम में आता है। मोटर-कारों, रेडियो-सेटों, आदि में काम में लाई जानेवाली स्टोरेज बैटरियों में भी इसी अम्ल का उपयोग होता है। आपकी सेलुलायड की वस्तुएँ—यथा कंघी, सोपकेस, खिलौने आदि—भी सल्फ़्यूरिक ऐसिड की ही सहायता से तैयार हो सकी हैं; कारण सेलुलायड गनकॉटन और कपूर से बनाया जाता है (दे० पृ० ११६०-११६२), और ये दोनों पदार्थ सल्फ़्यूरिक ऐसिड की सहायता के बिना नहीं बनाए जा सकते। गन-कॉटन और नाइट्रो-ग्लिसरीन (पृ० ११६२) से बने हुए कारतूसों के धूम्रहीन पाउडर (कॉर्डाइट) का उत्पादन भी गंधक के तेज़ाब के बिना संभव न हो सका है; कारण इन दोनों विस्फोटकों और प्रायः सभी प्रचंड विस्फोटकों का निर्माण गंधकाम्ल के बिना असंभव है। यही कारण है कि किसी भी राष्ट्र की आयुध-शक्ति सल्फ़्यूरिक ऐसिड पर निर्भर रहती है। वास्तव में, इस ऐसिड के बिना आधुनिक युद्ध संभव ही नहीं!

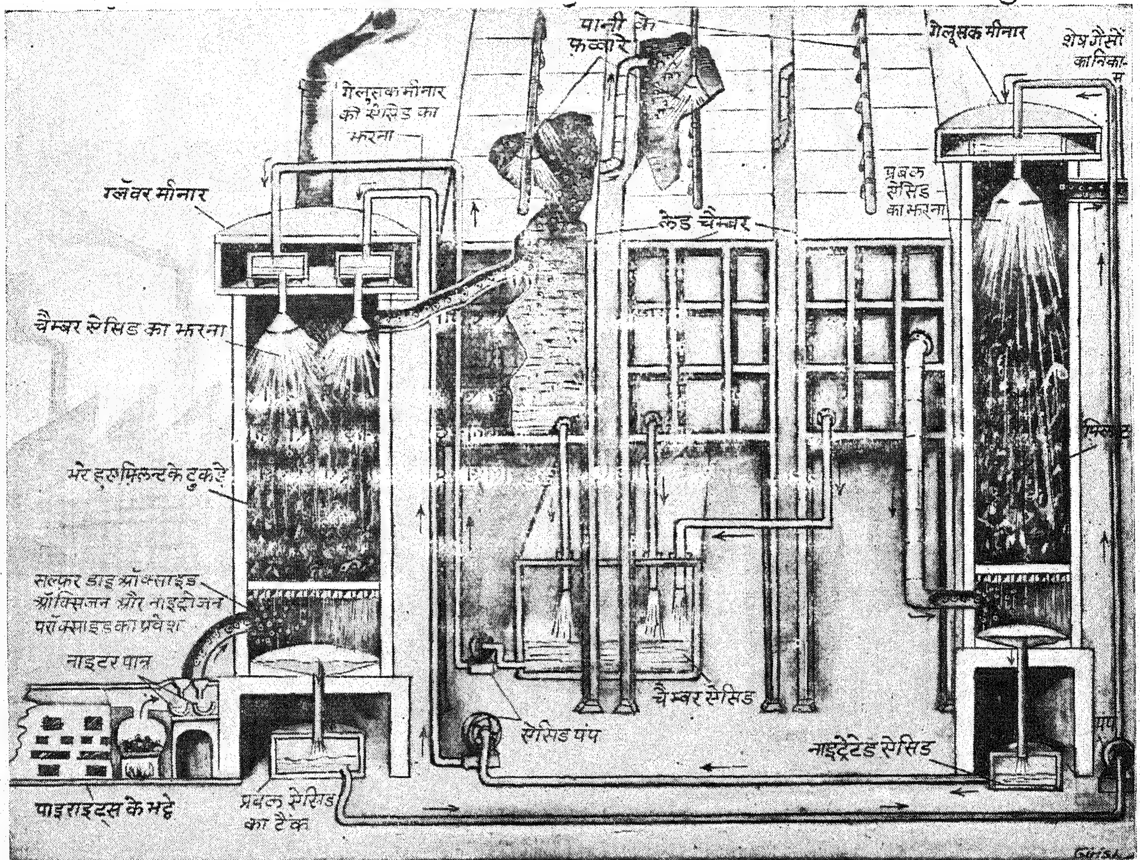
सल्फ़्यूरिक ऐसिड का सबसे बड़ा उपयोग कुछ महत्वपूर्ण रासायनिक खादों को तैयार करने में होता है। इनमें से अमोनियम सल्फ़ेट का उल्लेख हम कर चुके हैं (दे० पृ० १०७३)। एक अन्य रासायनिक खाद "कैल्शियम सुपरफ़ॉस्फ़ेट" खनिज कैल्शियम फ़ास्फ़ेट पर गंधक के तेज़ाब की क्रिया द्वारा बनाया जाता है। कैल्शियम फ़ास्फ़ेट [$Ca(PO_4)_2$] पानी में नहीं घुलता, किन्तु कैल्शियम सुपरफ़ास्फ़ेट [$Ca(H_2PO_4)_2$] पानी में सरलता से घुलकर जड़ों द्वारा शोषित होता रहता है, और इस प्रकार पौधों की फ़ास्फ़ोरस की आवश्यकता की पूर्ति करता रहता है। प्रति वर्ष लगभग ५० लाख टन गंधकाम्ल रासायनिक खादों को बनाने में ख़र्च कर डाला जाता है। यही नहीं, उसके द्वारा क्षारीय ऊसरों को उर्वर क्षेत्रों में परिणत करने के कार्य पर भी विचार हो चुका है।

इसके अलावा यह तेज़ाब शोरे से नाइट्रिक ऐसिड, नमक से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड, सोडियम ऐसेटेट से ऐसेटिक ऐसिड (सिरका का तेज़ाब), हड्डियों की राख अथवा प्राकृतिक कैल्शियम फ़ास्फ़ेट से फ़ॉस्फ़रिक ऐसिड और फ़ॉस्फ़रस मैदा से ग्लूकोज़ (अंगूरी शक्कर) और 'स्टार्च सिरप', 'कॉर्नसिरप' आदि शर्बत बनाने के काम में आता है। कार्बनिक रसायन में अनेकों महत्वपूर्ण पदार्थों को बनाने में यह तेज़ाब प्रयुक्त होता है। इन सबका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं। ऊन को साफ़ करने, स्टियरिन मोमबत्तियों को बनाने, जस्ता की क्रिया द्वारा हाइड्रोजन गैस के उत्पादन, गैसों आदि को सुखाने, तथा दवाओं में भी यह ऐसिड काम आती है। रसायनशालाओं में भी गंधक का तेज़ाब बहुत प्रयुक्त होता है। संसार में प्रतिवर्ष एक करोड़ टन से भी अधिक गंधक के तेज़ाब का निर्माण होता है। इसमें से लगभग ५० प्रतिशत रासायनिक खादों को बनाने, १८ प्रतिशत मिट्टी के तेलों के शोधन, १२ प्रतिशत लोहे और इस्पात संबंधी कार्यों, और शेष २० प्रतिशत अन्य सब बातों में ख़र्च होता है।

आपको अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि गंधक के तेज़ाब की उपयोगिता कितनी विस्तृत है। वास्तव में, गंधक के तेज़ाब के बिना व्यापारिक उद्योग संभव ही नहीं। इसीलिए यह कहा गया है कि किसी भी देश के अभ्युदय का अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि उसमें कितने गंधक का तेज़ाब ख़र्च होता है। तो फिर, हम इसे रासायनिक पदार्थों का राजा क्यों न कहें!

उपयोगी किन्तु भयानक पदार्थ

इतनी उपयोगिता होते हुए भी गंधक के तेज़ाब से उससे काम करनेवालों को सदैव सावधान रहना चाहिए। यदि प्रबल सल्फ़्यूरिक ऐसिड शरीर पर लग जाय और उसे तुरंत ही न हटा दिया जाय तो उस स्थान पर शरीर



गंधक का तेज़ाब बनाने की चैम्बर-विधि (विवरण के लिए देखिए पृ० २१८२-२१८३)

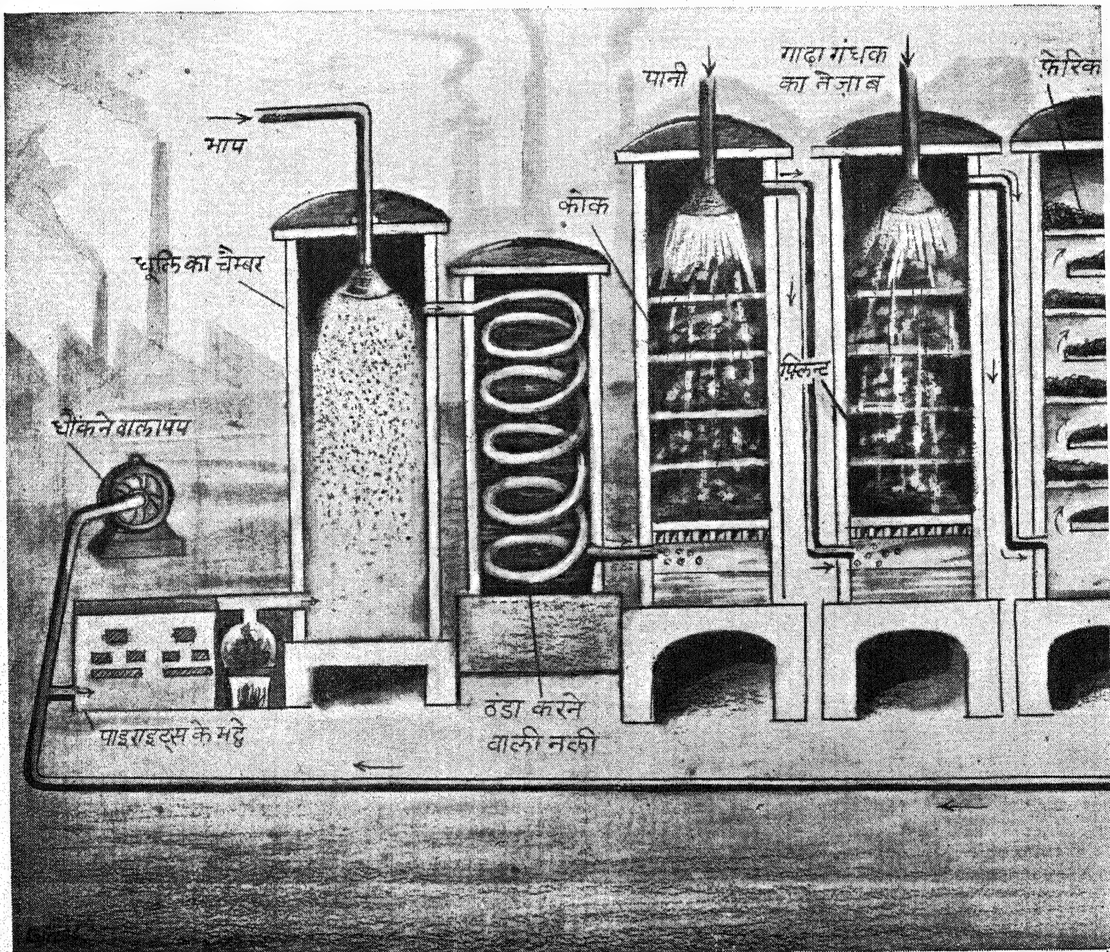
झुलसकर काला पड़ जायगा और घाव हो जायगा। यदि यह प्रबल तेज़ाब कपड़े में छू भी जाय, तो समझ लीजिए कि उस स्थान का कपड़ा शीघ्र ही ग़ायब हो जायगा, यहाँ तक कि इस तेज़ाब के हलके घोल के पड़ जाने पर भी कपड़े का बच जाना कठिन होता है। और यदि आपने कहीं ग़लती से अथवा धोखे से प्रबल ऐसिड में, विशेषतः गर्म प्रबल ऐसिड में, पानी छोड़ दिया तो शामत मोल ले ली—धड़ाके के साथ वह गर्म सांद्र ऐसिड छितरकर आपके शरीर पर आ पड़ सकती है, और झुलसकर आपको बुरी तरह घायल कर सकती है।

गंधकाम्ल की इस भयानकता का कारण क्या है? इस बात को समझ लेने के लिए उसके कुछ गुणों का ज्ञान आवश्यक है। सांद्र गंधकाम्ल पानी का एक बहुत ही प्रबल शोषक होता है, और इस शोषण में ताप के बहुत बड़े परिमाण का उत्पादन होता है। यदि आप सांद्र ऐसिड में पानी छोड़ देने की भूल करेंगे तो एका-एक इतनी गर्मी पैदा होगी कि कुछ पानी भाप में बदलकर धड़ाके के साथ ऐसिड को छितराते हुए निकल पड़ सकता है। अतएव यह याद रखना आवश्यक है कि गंधक के तेज़ाब के घोल को बनाते समय तेज़ाब सदैव धीरे-धीरे ठंडे पानी में छोड़ना चाहिए और मिश्रण को बराबर शीशे की छड़ से चलाता रहना चाहिए। आप देखेंगे कि शीघ्र ही मिश्रण बहुत गर्म हो जायगा। यह मिलाने का काम चीनी अथवा शीशे के ऐसे पात्र में करना चाहिए जो गर्मी से न चटके। यह शोषण-शक्ति केवल यहीं तक सीमित नहीं; प्रबल गंधकाम्ल जीव-पदार्थों अथवा कार्बनिक पदार्थों में संयुक्तावस्था में रहनेवाले जलीय अंशों को भी बाहर निकालकर तीव्रतापूर्वक शोषित कर लेता है। यह गुण कई मनोरंजक प्रयोगों द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। एक परीक्षा-नली में थोड़ी-सी सांद्र ऐसिड लेकर गर्म कर लीजिए। इसमें एक छोटा-सा काग़ज़ का टुकड़ा छोड़ दीजिए। आप एक प्रक्रिया होते देखेंगे और बात

की बात में कागज़ कोयले (कार्बन) में बदलकर ऐसिड को काला कर देगा। कागज़ के स्थान पर लकड़ी (बुरादा), रुई (अथवा कपड़े का टुकड़ा), मैदा, शकर आदि छोड़ने पर भी आप इसी प्रकार की प्रक्रिया होते देखेंगे। बात यह है कि ये जीव-पदार्थ कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के रासायनिक संयोग से बने होते हैं, और इनमें हाइड्रोजन और ऑक्सिजन उसी अनुपात में रहते हैं, जैसा पानी में होता है। इसीलिए रसायनशास्त्र में इन यौगिकों को कार्बोहाईड्रेट कहते हैं। गंधकाम्ल इन दो तत्वों को पानी के रूप में निकालकर शोषित कर लेता है, और कार्बन रह जाता है। शकर और कागज़ पर गंधकाम्ल के और भी प्रयोग किए जा सकते हैं।

एक बीकर में लगभग एक छटाँक शकर ले लीजिए और इसमें लगभग पौन छटाँक गुनगुना पानी छोड़ दीजिए। थोड़ी देर में शकर पानी में घुल जायगी। अब बीकर को एक प्लेट पर रखकर उसमें जल्दी से प्रबल सल्फ्यूरिक ऐसिड का शकर के घोल से लगभग सवा गुना आयतन छोड़ दीजिए। आप देखेंगे कि मिश्रण काला पड़ गया और झाग उठने लगा। इसके साथ ही साथ भाप के बादल निकलते हुए दिखाई देंगे, और यदि बीकर बहुत बड़ा नहीं है तो अन्त में यह झाग उसके सिरे तक उठकर स्पंजी कोयले के रूप में रह जायगा।

कागज़ पर गन्धक के अम्ल की क्रिया एक रासायनिक जादू के रूप में भी आप प्रदर्शित कर सकते हैं। एक नोकीले लकड़ी के टुकड़े द्वारा कागज़ पर हलके अम्ल से कुछ लिख दीजिए। इस समय दूर से कागज़ पर कुछ



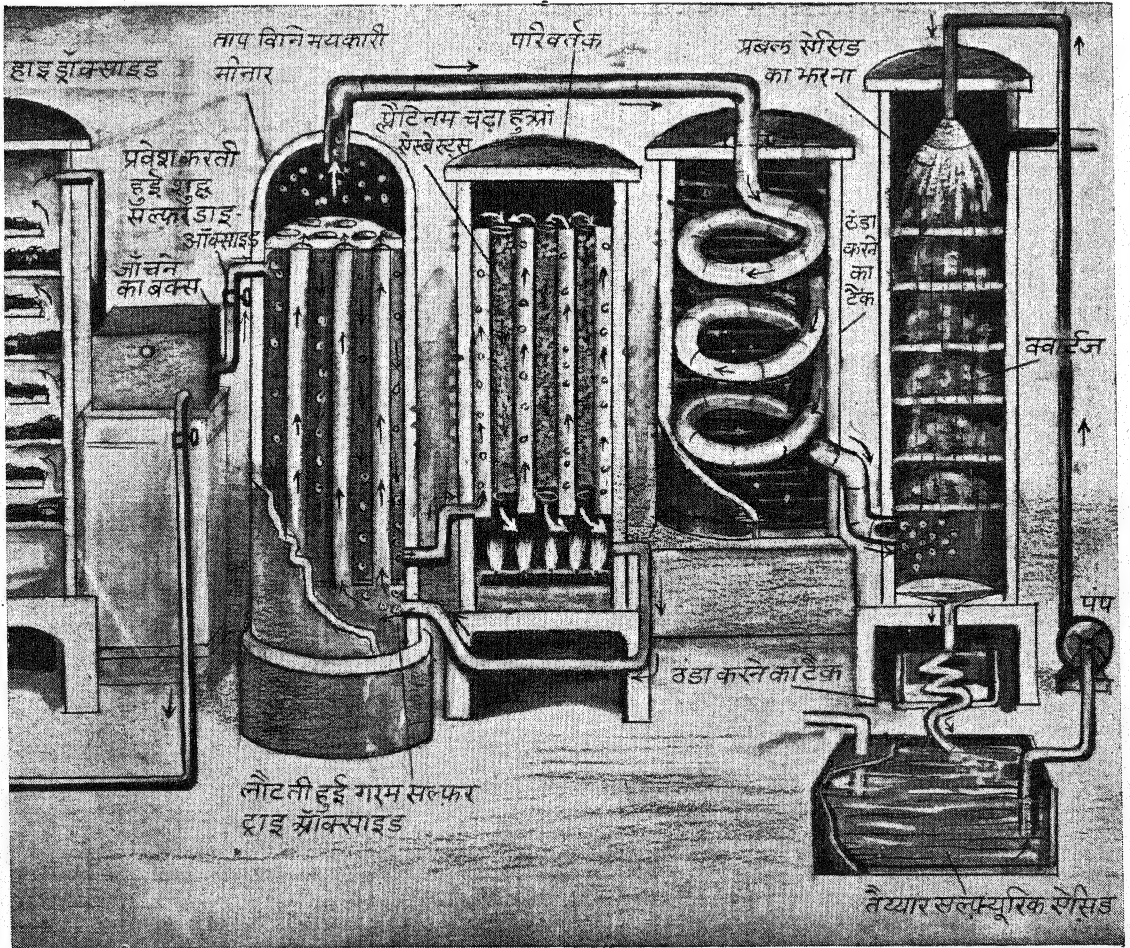
गंधक का तेज़ाब बनाने की संपर्क-विधि—अ (इस चित्र को अगले चित्र से जोड़कर देखिए)

न दिखाई देगा। लेकिन उस कागज़ को स्पिरिट-लैम्प के ऊपर गर्म हवा में अथवा आग के सामने रखने पर पानी के वाष्पीभूत हो जाने के कारण ऐसिड सांद्र हो जायगी और कागज़ को लिखे हुए स्थान पर झुलस देगी। फलतः अक्षर काले होकर स्पष्ट हो जायँगे (दे॰ पृ॰ २१७७ का चित्र)।

केवल कार्बोहाइड्रेटों को ही नहीं, अधिकतर जीव-पदार्थों और कार्बनिक यौगिकों को यह अम्ल जल-विहीन करके कार्बन अथवा अन्य यौगिकों में परिणत कर देता है। अनेकों पदार्थों के बनाने की विधियाँ गन्धक के तेज़ाब की जलशोषणशक्ति पर निर्भर हैं। अनेक गन्ध-द्रव्य, विस्फोटक, ईथर, इथिलीन गैस, कार्बन मानॉक्साइड गैस, आदि के उत्पादन में इसकी इसी जलग्राहकता का उपयोग होता है।

गन्धकाम्ल में यह झुलसाने और कुरेदने की क्षमता प्रधानतः उसके इस जलाकर्षक गुण के ही कारण होती है। वह एक प्रबल तेज़ाब भी है, किन्तु प्रबलतम नहीं; नमक और शोरा के तेज़ाब में अम्लता उससे अधिक होती है। अन्य तेज़ाबों की भाँति वह अनेक धातुओं, उनकी ऑक्साइडों, हाइड्रॉक्साइडों, कार्बोनेटों तथा सल्फ़ाइडों को अपने लवणों अर्थात् सल्फ़ेटों में बदलकर स्वयं निराकृत हो जाता है। हाइड्रोजन (पृ॰ २७२-२७४), हाइड्रोजन परॉक्साइड (पृ॰ ६७५) और हाइड्रोजन सल्फ़ाइड (पृ॰ २०६७) की उत्पादन-विधियों के वर्णन में इस प्रकार की कुछ क्रियाओं का उल्लेख हो चुका है।

सांद्र गंधकाम्ल तेल के समान और पानी से दुगने से कुछ कम भारी (आपेक्षित घनत्व १·८४) गाढ़ा



गंधक का तेज़ाब बनाने की संपर्क-विधि—(ब) (विवरण के लिए देखिए पृ॰ २१८२-८४ का मैटर।)

द्रव होता है। वह काफ़ी ऊँचे तापक्रम अर्थात् ३३८°c पर उबलता है। उसकी उपयोगिता का एक कारण उँचा क्वथनाङ्क भी है, कारण जब वह अन्य लवणों के साथ मिलाकर गर्म किया जाता है तो उन लवणों की अधिक वाष्पशील ऐसिडें निकल आती हैं और वे सल्फ़ेटों में परिणत हो जाते हैं। शोरा से नाइट्रिक ऐसिड (पृ० १३१३-१३१४) और नमक से हाइड्रोक्लौरिक ऐसिड (पृ० १६४५-१६४८) इसी प्रकार बनाई जाती हैं।

हलकी सल्फ़्यूरिक ऐसिड में लोहा, जस्ता, मैग्नेशियम आदि धातु सल्फ़ेटों में परिवर्तित होते हुए घुल जाती हैं। ठंडी सांद्र ऐसिड लोहा, पारा, ताँबा आदि धातुओं पर आक्रमण नहीं करती। किन्तु गर्म करने पर ये धातु सल्फ़ेटों में बदल जाती हैं, और साथ ही साथ सल्फ़र डाइऑक्साइड गैस का उत्पादन होता है। प्रयोगशाला में यह गैस बहुधा ताँबे के छीलनों को गाढ़े गंधकाम्ल के साथ गर्म करके बनाई जाती है (पृ० २०६७)।

जैसा हम हाइड्रोजन के अध्याय (पृ० २७३) में बता चुके हैं, यह ऐसिड तीन तत्त्वों—हाइड्रोजन, ऑक्सिजन और गंधक के संयोग से बनी होती है, और इसका अणु-सूत्र (H_2SO_4) लिखा जाता है। गर्म करने पर वह पानी (H_2O) और सल्फ़र ट्राइऑक्साइड (SO_3) में विघटित होती है, और रक्त-तप्त पृष्ठ पर छोड़ने पर पानी, सल्फ़र डाइऑक्साइड और ऑक्सिजन में विच्छिन्न हो जाती है। इस प्रकार उसके एक अणु से एक अणु पानी (H_2O) का, एक अणु सल्फ़र डाइऑक्साइड (SO_2) का और एक परमाणु ऑक्सिज़न (O) का प्राप्य रहते हैं। इस प्राप्य ऑक्सिजन के कारण उसमें ऑक्सीकारक गुण भी रहता है, उदाहरणार्थ सांद्र गंधकाम्ल को कोयले के साथ गर्म करने पर कोयले का कार्बन इस प्राप्य ऑक्सिजन के साथ संयुक्त होकर कार्बन डाइऑक्साइड में ऑक्सीभूत होकर निकलने लगता है,साथ ही ऐसिड पानी और सल्फ़र डाइऑक्साइड गैस में बदलकर उड़ने लगती है।

यदि शरीर पर सल्फ़्यूरिक ऐसिड पड़ जाय तो उसे तुरंत पहले पानी से, फिर खानेवाले सोडा (सोडियम बाइकार्बोनेट) के घोल से और यदि यह न मिल सके तो धोनेवाला सोडा (सोडियम कार्बोनेट) के ही हलके घोल से धो देना चाहिए। इन दोनों पदार्थों की रासायनिक क्रिया से ऐसिडें नष्ट हो जाती हैं। यदि ये भी न मिलें तो चूने का पानी, अथवा अमोनिया अथवा अमोनियम कार्बोनेट, अथवा इस प्रकार के किसी हलके क्षार के घोल से धोना चाहिए। साबुन के पानी अथवा लकड़ी की राख के घोल का भी व्यवहार हो सकता है। लकड़ी की राख में पोटैशियम कार्बोनेट रहता है, जो अम्लों का निराकरण सरलता से कर देता है। इसमें दाहक क्षारों अर्थात् (कास्टिक सोडा या कास्टिक पोटाश) का प्रयोग कभी न करना चाहिए, कारण ये स्वयं क्षारक होते हैं।

कपड़े पर सल्फ़्यूरिक ऐसिड पड़ जाने पर उसे तुरंत ऊपर बताई हुई वस्तुओं के घोल से धो देना चाहिए। तनिक भी देर हो जाने पर ऐसिड अपना काम कर चुकेगी और यदि इसी समय नहीं तो धोबी के यहाँ से आने पर कपड़ा आपको कटा मिलेगा।

निर्माण की दो विधियाँ

गंधक का तेज़ाब प्राचीन काल के कीमियागरों को मालूम था। आठवीं शताब्दी से उसके ज्ञात होने का प्रमाण मिलता है। कीमियागर उसे कसीस या फिटकरी को स्रवित करके बनाते थे। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में गंधकाम्ल का निर्माण गंधक और शोरे को एक लोहे के पात्र में गर्म करके किया गया। इस पात्र से निकलती हुई ऐसिड की वाष्पें शीशे के बड़े-बड़े पात्रों में, जिनमें थोड़ा-सा पानी भी रहता था, घनीभूत कर ली जाती थीं। कुछ ही वर्षों बाद शीशे की भंगुरता के कारण उसके पात्रों के स्थान पर सीसा के कक्षों (चैम्बरों) का प्रयोग होने लगा। इसी विधि का विकास होते-होते उन्नीसवीं सदी के मध्य में आधुनिक 'चैम्बर-विधि' का प्रवर्तन हुआ।

गंधक के तेज़ाब की उपयोगिता की वृद्धि के साथ ही साथ उसके उत्पादन की सस्ती से सस्ती विधियों को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न होने लगा था। चैम्बर-विधि इन्हीं प्रयत्नों का प्रथम सफल परिणाम थी। इसमें वैज्ञानिकों ने खनिज गंधक, पानी और हवा की ऑक्सिजन को एक साथ संयुक्त करके गंधकाम्ल में परिणत कर दिया। हाइड्रोजन, ऑक्सिजन और गंधक के यौगिक के निर्माण के लिए उनसे अधिक सस्ती वस्तुएँ और हो ही क्या सकती थीं?

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में "बैडिशे ऐनिलिन अंड सोडा फ़ैब्रिक" नामक जर्मन निर्माताओं ने उपर्युक्त प्राकृतिक पदार्थों, अर्थात् खनिज गंधक, पानी और हवा की ऑक्सिजन, को सल्फ़्यूरिक ऐसिड में संश्लिष्ट कर देने की एक सरलतर विधि को ढूँढ़ निकाला। इस विधि को 'संपर्क-विधि' कहते हैं। लगभग इसी समय इँग्लैण्ड में डा० रूडाल्फ़ मेसेल ने इसी विधि से सल्फ़्यूरिक ऐसिड के निर्माण की सफलतापूर्वक योजना की।

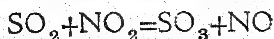
प्रत्येक आधुनिक निर्माणशाला में प्रतिदिन सैकड़ों टन सल्फ़्यूरिक ऐसिड तैयार हुआ करती है। यह निर्माण दोनों विधियों में निम्न क्रम से होता है—

(१) गंधक अथवा लोहे की पाइराइट्स् (जिसमें गंधक लोहे के साथ संयुक्तावस्था में रहता है) को हवा में जलाकर सल्फ़र डाइऑक्साइड गैस का उत्पादन करना।

(२) सल्फ़र डाइऑक्साइड और हवा की ऑक्सिजन को नाइट्रोजन पराक्साइड (No_2) गैस अथवा प्लैटिनम, वैनेडियम ऑक्साइड आदि उत्प्रेरकों की उपस्थिति में संयुक्त करके सल्फ़र ट्राइऑक्साइड में बदलना। इसी परिवर्तन के अनुष्ठान में मनुष्य को सबसे अधिक दिमाग़ लड़ाना पड़ा।

(३) सल्फ़र ट्राइऑक्साइड को पानी से संयुक्त करके सल्फ़्यूरिक ऐसिड में परिणत करना।

चैम्बर-विधि में सल्फ़र डाइऑक्साइड और हवा की ऑक्सिजन नाइट्रोजन परॉक्साइड द्वारा संयुक्त की जाती है। यह नाइट्रोजन परॉक्साइड नाइटर पात्रों से प्राप्त होती हैं (पृ० २१७६ का चित्र देखिए)। इन पात्रों में शोरा और सांद्र सल्फ़्यूरिक ऐसिड का मिश्रण भरा रहता है, और इन दोनों की प्रतिक्रिया से नाइट्रिक ऐसिड उत्पन्न होकर वाष्परूप में निकलती हुई सल्फ़र डाइऑक्साइड गैस में मिलती रहती है। इसमें से कुछ सल्फ़र डाइऑक्साइड को सल्फ़्यूरिक ऐसिड में बदलकर वह नाइट्रोजन परॉक्साइड गैस में परिवर्तित होती रहती है। यह नाइट्रोजन परॉक्साइड पहले ग्लवर मीनार में और शेष सीसे के चैम्बरों में सल्फ़र डाइऑक्साइड को सल्फ़र ट्राइऑक्साइड में बदलती रहती है और स्वयं नाइट्रिक ऑक्साइड (NO) गैस में परिणत हो जाती है। नीचे दी हुई रासायनिक समीकरण से यह प्रतिक्रिया स्पष्ट हो जाती है—



$$SO_2+NO_2=SO_3+NO$$

यह नाइट्रिक ऑक्साइड भट्ठी से सल्फ़र डाइऑक्साइड के साथ आई हुई हवा की ऑक्सिजन के साथ तुरन्त संयुक्त होकर फिर नाइट्रोजन परॉक्साइड हो जाती है। इस प्रकार नाइट्रोजन परॉक्साइड के प्रायः उतने ही परिमाण द्वारा सल्फ़र डाइऑक्साइड सल्फ़र ट्राइऑक्साइड में बदलती रहती है। जो थोड़ी-सी नाइट्रोजन परॉक्साइड निकल जाती है उसकी पूर्ति नाइटर-पात्रों से हुआ करती है। इन सीसे के चैम्बरों का आयतन डेढ़ लाख से दो लाख घन फ़ीट तक होता है, अर्थात् स्कूल के एक साधारण कमरे से लगभग बीसगुना! अन्तिम चैम्बर से निकलती हुई नाइट्रोजन की ऑक्साइडें 'गेलूज़क मीनार' में झरती हुई सान्द्र सल्फ़्यूरिक ऐसिड में शोषित कर ली जाती हैं। इस शोषण के बाद ऐसिड को 'नाइट्रेटेड ऐसिड' कहते हैं।



डॉ० रूडाल्फ़ मेसेल
जिसने इँगलैण्ड में 'संपर्क-विधि' जारी की।

ग्लवर मीनार में चैम्बरों से निकली हुई चैम्बर ऐसिड (जो ७० प्रतिशत ऐसिड होती है), और गेलूज़क मीनार से निकली हुई नाइट्रेटेड ऐसिड ये दोनों ले जाकर गिराई जाती हैं। चैम्बर ऐसिड में मिला हुआ पानी सल्फ़र ट्राइऑक्साइड को शोषित करके सल्फ़्यूरिक ऐसिड का उत्पादन करता है, और ग्लवर मीनार के उँचे तापक्रम पर उसी पानी की क्रिया द्वारा नाइट्रेटेड ऐसिड फिर सल्फ़्यूरिक ऐसिड और नाइट्रोजन की ऑक्साइडों में विच्छिन्न हो जाती है। ये ऑक्साइडें फिर अपना वही काम शुरू कर देती हैं।

इस प्रकार ग्लवर टावर से सांद्र ऐसिड निकलकर नीचे टैङ्क में इकट्ठी होती रहती है, और यहीं से वह आवश्यकतानुसार गेलूज़क मीनार में भेजी जाती है। चैम्बरों में सल्फ़र ट्राइऑक्साइड के शोषण के लिए पानी अथवा वाष्प बाहर से प्रविष्ट की जाती है।

चैम्बर ऐसिड में लगभग ३० प्रतिशत पानी के अलावा और कई अपद्रव्य होते हैं। इसे कतिपय विशेष विधियों से गर्म करने से पानी, अधिक वाष्पशील होने के कारण, अलग हो जाता है, और ऐसिड अधिकाधिक सांद्र होती

जाती है। इस प्रकार प्राप्त की हुई लगभग ७८ प्रतिशत ऐसिड को बी० ओ० वी० (ब्राउन आयल आफ़ विट्रियल), और लगभग ९४ प्रतिशत ऐसिड को आर० ओ० वी० (रेक्टिफ़ाइड आयल वाफ़ विट्रियल) कहते हैं। सल्फ़्यूरिक ऐसिड को आयल आफ़ विट्रियल इसलिए कहते हैं कि वह प्राचीन काल में कसीस (ग्रीन विट्रियल) से बनाई जाती थी और तेल-सरीखी गाढ़ी होती थी। आर० ओ० वी० के स्रवण से ९८ प्रतिशत ऐसिड निकल आती है।

अनेक उद्योगों (उदाहरणार्थ रासायनिक खादों की तैयारी) के लिए चैम्बर ऐसिड से पानी के अलावा अन्य अपद्रव्यों को निकाल डालने की आवश्यकता नहीं पड़ती। तथापि वह रासायनिक रीति द्वारा सर्वथा शुद्ध और रंगहीन कर दी जा सकती है।

गंधकाम्ल के निर्माण की दूसरी रीति को 'संपर्क विधि' कहते हैं, कारण इसमें सल्फ़र डाइऑक्साइड और हवा की ऑक्सिजन का संयोग उत्प्रेरकों के संपर्क में किया जाता है। 'संपर्क ऐसिड' शुद्ध और सांद्र होकर निकलती है, अतएव इसका उपयोग परिष्कृत रासायनिक पदार्थों, शकर आदि खाद्य वस्तुओं, विस्फोटकों, एवं नील आदि के निर्माण में, मिट्टी के तेल के शोधन में, तथा बैटरियों में होता है। इस विधि में यह विशेष ध्यान रक्खा जाता है कि उत्प्रेरक (विशेषतः प्लैटिनम) तक पहुँचने के पहले सल्फ़र डाइऑक्साइड गैस सर्वथा शुद्ध कर दी जाय। पृ० २१८०-८१ के चित्रों में स्पष्ट है कि भट्टियों में उत्पन्न होती हुई सल्फ़र डाइऑक्साइड में पंप द्वारा हवा मिलाकर इस मिश्रण को किस प्रकार अनेकों शोधक मीनारों में प्रविष्ट करते हैं। भाप और पानी से धूलि आदि, गंधक के तेज़ाब से आर्द्रता, और फ़ेरिक डाइऑक्साइड से आर्सनिक के यौगिक पृथक् हो जाते हैं। जाँचने के बक्स में गैसों की शुद्धता की परीक्षा होती है। इसमें प्रकाश का तीव्र पुंज डाला जाता है, जिसका निरीक्षण एक शीशे की खिड़की से थोड़ी-थोड़ी देर बाद किया जाता रहता है। जब तक प्रकाश-पुंज अदृश्य रहता है तब तक गैसें शुद्ध मानी जाती हैं, किंतु जैसे ही अपद्रव्यों की उपस्थिति में धूलि-कणों के कारण वह दृष्टिगोचर होता है, गैसें पुनर्शोधन के लिए लौटा दी जाती हैं। इस बक्स से गैसें एक ऐसी मीनार में उतरती हैं, जिसमें नलों द्वारा 'परिवर्तक' से निकलती हुई तप्त सल्फ़र ट्राइऑक्साइड ऊपर चढ़ा करती है। अतएव सल्फ़र डाइऑक्साइड भी परिवर्तक में प्रविष्ट होने के पहले गर्म हो जाती है। चित्र में दिखाए हुए परिवर्तक में प्लैटिनम चढ़ा हुआ ऐस्बस्टस काम में लाया जाता है। इस उत्प्रेरक के प्रभाव में सल्फ़र डाइऑक्साइड और ऑक्सिजन का संयोग सबसे अच्छा ४००°C से ४५०°C तक होता है। यह तापक्रम आरंभ में गैस-बर्नरों द्वारा प्राप्त कर लिया जाता है, फिर इन बर्नरों के जलने की आवश्यकता नहीं रहती, कारण सल्फ़र डाइऑक्साइड और ऑक्सिजन के संयोग से इतने ताप का उत्पादन होता रहता है, और ये गैसें ऐसी गति से प्रवाहित की जाती रहती हैं कि सर्वोत्तम तापक्रम बना रहे। ताप-विनिमयकारी मीनार में सल्फ़र ट्राइऑक्साइड अपना ताप सल्फ़र डाइऑक्साइड को दे देती है, इस प्रकार ताप का अपव्यय नहीं होने पाता। इसके बाद सल्फ़र ट्राइऑक्साइड ठंडी करके एक मीनार में झरती हुई प्रबल गंधकाम्ल में शोषित कर ली जाती है, कारण यह सल्फ़र ट्राइऑक्साइड के लिए सबसे अच्छा शोषक होता है। इस प्रकार शोषण कर चुकनेवाली ऐसिड से सल्फ़र ट्राइऑक्साइड का धूम निकला करता है, अतएव इसे धूमशील सल्फ़्यूरिक ऐसिड कहते हैं। मीनार अथवा ऐसिड के टैङ्क में आवश्यक परिमाणों में हलकी ऐसिड अथवा पानी छोड़कर शोषित सल्फ़र ट्राइऑक्साइड सांद्र (९८%) सल्फ़्यूरिक ऐसिड में परिणत कर दी जाती है।

प्लैटिनम चढ़े हुए ऐस्बस्टस के स्थान पर प्लैटिनम-कणों से ढके हुए स्पंजरूप मैग्नेशियम सल्फ़ेट का भी व्यवहार होता है। लेकिन प्लैटिनम एक तो महँगा होता है, दूसरे गैसों के अपद्रव्यों (विशेषतः आर्सीनियस ऑक्साइड) द्वारा उसकी प्रवर्त्तन-शक्ति शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। इसीलिए संपर्क-विधि में गैसों का शोधन अत्यावश्यक है। सन् १९२८ ई० में यह पता लगा कि वैनेडियम पेण्टाक्साइड इस कार्य के लिए एक बड़ा ही अच्छा उत्प्रेरक है, और उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अपद्रव्यों द्वारा उसकी सक्रियता का नाश नहीं होता। इस अन्वेषण से संपर्क-विधि अधिक सरल और सस्ती हो गई है।

हमारे देश में सल्फ़्यूरिक ऐसिड चैम्बर-विधि से कलकत्ता, कानपुर, बम्बई, गाज़ियाबाद, मद्रास, बड़ोदा और पंजाब में बनाई जाती है। इधर टाटा कं० और आसाम आयल कं० ने उसे संपर्क-विधि से बनाना शुरू किया है। इस प्रकार भारतवर्ष में प्रति वर्ष लगभग २०,००० टन सल्फ़्यूरिक ऐसिड तैयार होती है, जबकि इंग्लैण्ड और जर्मनी में दस-दस लाख टन से भी अधिक बनाई जाती है।



पृथ्वी की कहानी





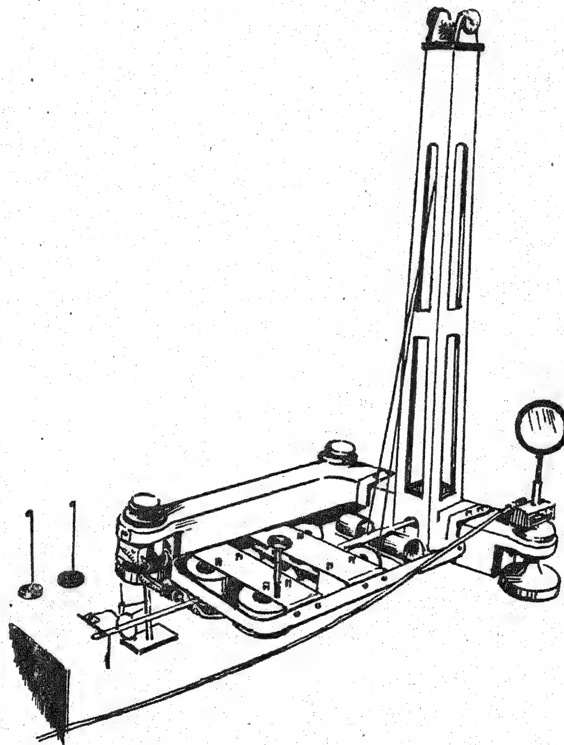
आप इन्हें कहीं आधुनिक युद्ध की हवाई बमबाज़ी और गोलाबारी द्वारा प्रस्तुत विनाश के चित्र न समझ बैठें ! ये हैं १९३४-३५ के भूचालों के कारण (ऊपर) क्वेटा और (नीचे) मुंगेर (बिहार) के विध्वंस की दो तस्वीरें !



भूकम्प या भूचाल

अपने पैरों के नीचे की धरती के एकाएक हिल उठने, काँपने लगने या खिसकने लगने का-सा अनुभव करने पर मनुष्य के मन में जैसी विचित्र भयमिश्रित सनसनी का संचार होता है, उसकी शब्दों द्वारा अनुभूति कराना संभव नहीं है। आदिकाल ही से पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में धरती के इन कंपनों की विध्वंस-लीला का परिणाम मनुष्य भुगतता चला आ रहा है और आज भी वह इस विषय में बिल्कुल असहाय है। किन्तु जहाँ पहले वह इसे एक दैवी कोप मानकर ही सिर झुका लिया करता था, वहाँ अब प्रकृति के अन्य रहस्यों की तरह इसका भी भेद जान लेने का वह अथक प्रयास कर रहा है। आइए, प्रस्तुत लेख में इस संबंध में अब तक प्राप्त जानकारी का कुछ परिचय आपको दें।

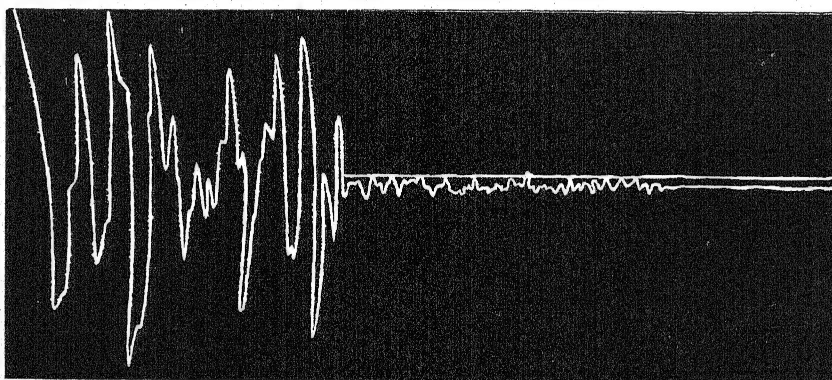
मनुष्यों का सहस्रों वर्षों का विपुल आयोजन पल-भर में मटियामेट कर देने और लाखों जीव-धारियों के प्राण क्षणभर में हर लेनेवाला भूकम्प प्रकृति की एक अनोखी विनाशकारी घटना है। यह घटना इतनी विचित्र है कि इसके घटने का कोई क्षीण आभास भी मनुष्य को नहीं मिलता। जादू के खेल की भाँति क्षणभर में सब-कुछ हो जाता है। भूकम्प अकस्मात् ही होता है और अत्यंत सूक्ष्म काल के लिए, परन्तु उसका प्रभाव इतना भयंकर और व्यापक होता है कि उसकी स्मृति सदा के लिए मानव इतिहास में अंकित हो जाती है। पृथ्वी की रचना पर यद्यपि भूकम्प का प्रभाव नगण्य-सा होता है, तथापि जिन कारणों से उसकी उत्पत्ति होती है तथा उसकी आनुषंगिक अवस्थाएँ, पृथ्वी की रचना में कम प्रभावोत्पादक नहीं हैं। ज्वालामुखी पर्वत के उद्गारकाल के समय तथा उसके कुछ पूर्व ज्वालामुखी का निकटवर्ती प्रदेश भयानक रूप से कँपकँपाने लगता है, मकान धराशायी हो जाते हैं, धरती फट जाती है तथा मानव सभ्यता के अनेकों दृश्यों में विचित्र उलट-पुलट हो जाती है। ज्वालामुखी प्रदेशों में जब-जब ज्वालामुखी का उद्गार होने लगता है तब-तब इस प्रकार के कम्प आते रहते हैं। अर्थात् इस प्रकार से आनेवाले भूकम्प वास्तव में ज्वालामुखी के उद्गार के ही परिणाम हैं। परन्तु बहुधा ऐसे-ऐसे स्थानों में भी भूकम्प होते हैं जो कि ज्वालामुखी प्रदेशों के बाहर हैं और जिनके घटित होने के समय आसपास कहीं भी किसी ज्वाला-



कंप-लेखक या सीस्मोग्राफ़ नामक यंत्र
जिसकी सहायता से अब हज़ारों मील दूर तक के सूक्ष्म से सूक्ष्म पृथ्वी के कंपनों का पता लगाया जा सकता है।

मुखी का उद्‌गार नहीं होता। साधारणतः 'भूकम्प' अथवा 'भूचाल' से उसी घटना से तात्पर्य है जो अदृश्य भूगर्भ में होनेवाली किसी असाधारण क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप धरातल के कुछ अंश के आकस्मिक विकम्पन के रूप में भूपृष्ठ पर घटित होती है।

धरातल के किसी-न-किसी भाग में भूकम्प प्रतिदिन होता ही रहता है। वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी प्रति दस मिनिट के अंतर पर एक बार थरथराती है और प्रति सप्ताह औसतन तीन बार हमारे इस ग्रह के कलेवर में ज़ोरदार कंपन होता रहता है। इस प्रकार सम्पूर्ण धरातल पर वर्ष भर में लगभग ७००० कम्प होते हैं। परन्तु इनमें से बहुत थोड़े ऐसे होते हैं जो साधारण मनुष्यों का ध्यान आकर्षित कर सकते हैं अथवा मानव जीवन पर प्रभाव डालते हैं। अधिकांश इतने अल्पकालीन और सूक्ष्म-वेगी होते हैं कि चेतना-शक्ति द्वारा उन की अनुभूति होना सामान्यतः असम्भव होता है। केवल तीव्र भूकम्पों का अनुभव ही हम कर पाते हैं, विशेषकर उनके द्वारा होनेवाली जन-धन की अपार क्षति के कारण।



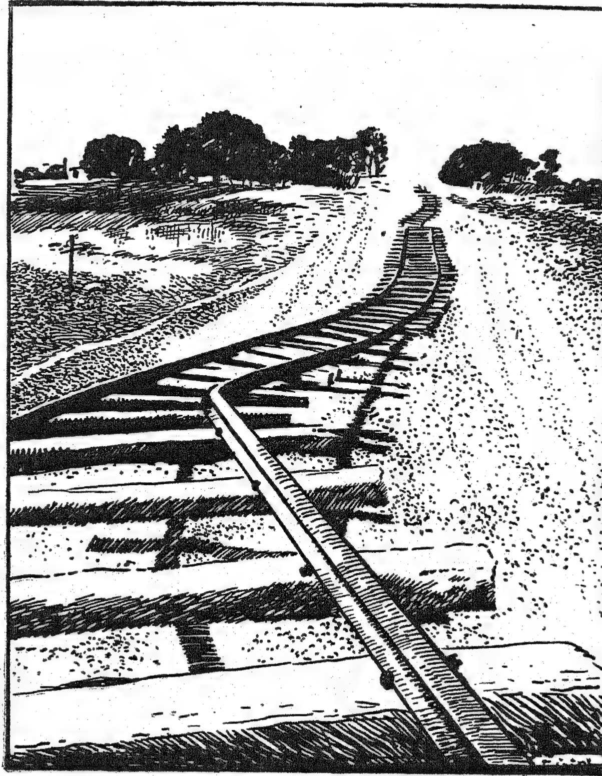
सीस्मोग्राफ़ द्वारा आलिखित पृथ्वी के कंपन का एक रेखा-चित्र
इस प्रकार के कंपन-चित्रों द्वारा विशेषज्ञ भूकंप की तीव्रता, उसकी लहरों की दिशा, आदि विविध बातों का अनुमान लगा सकते हैं।

जिन सूक्ष्म कम्पनों का अनुभव मनुष्य की चेतना-शक्ति के द्वारा होना असम्भव है, उनका प्रदर्शन करने के लिए वैज्ञानिकों ने एक विशेष यंत्र का आविष्कार किया है। इसे कम्पलेखक या सीस्मोग्राफ़ (Seismograph) कहते हैं। इस यंत्र के द्वारा धरातल पर होनेवाले सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कम्प का अनुभव भी हमें हो जाता है। यहाँ तक कि कुछ यंत्र पदचाप द्वारा उत्पन्न कम्पन भी अंकित कर सकते हैं! धरातल के विभिन्न भागों में लगभग ३५० प्रयोग-शालाएँ भूकम्प-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए बनाई गई हैं। भारत में भी अलीपुर, कोलाबा तथा देहरादून आदि स्थानों में भूकम्प की नाप-जोख करनेवाले यंत्र लगे हैं। भूकम्प से ठोस धरती भी उसी प्रकार लहराने लगती है जिस प्रकार जल लहराता है। प्रचण्ड भूकम्प के समय धरातल पर चलनेवाली कम्प-तरंगों को हम प्रत्यक्ष ही देख सकते हैं। इन तरंगों के वेग, विस्तार और काल से हमें यह तो पता चल ही जाता है कि भूकम्प किस केन्द्र से उत्पन्न हुआ और कहाँ-कहाँ तक उसका प्रभाव फैला, साथ ही भूगर्भ के सम्बन्ध में भी रहस्यपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। भूकम्प-तरंगों से किस प्रकार भूगर्भ की रचना पर प्रकाश पड़ता है यह आपको हम पिछले एक परिच्छेद में बता चुके हैं (देखिए भाग ५—पृष्ठ ५५२)।

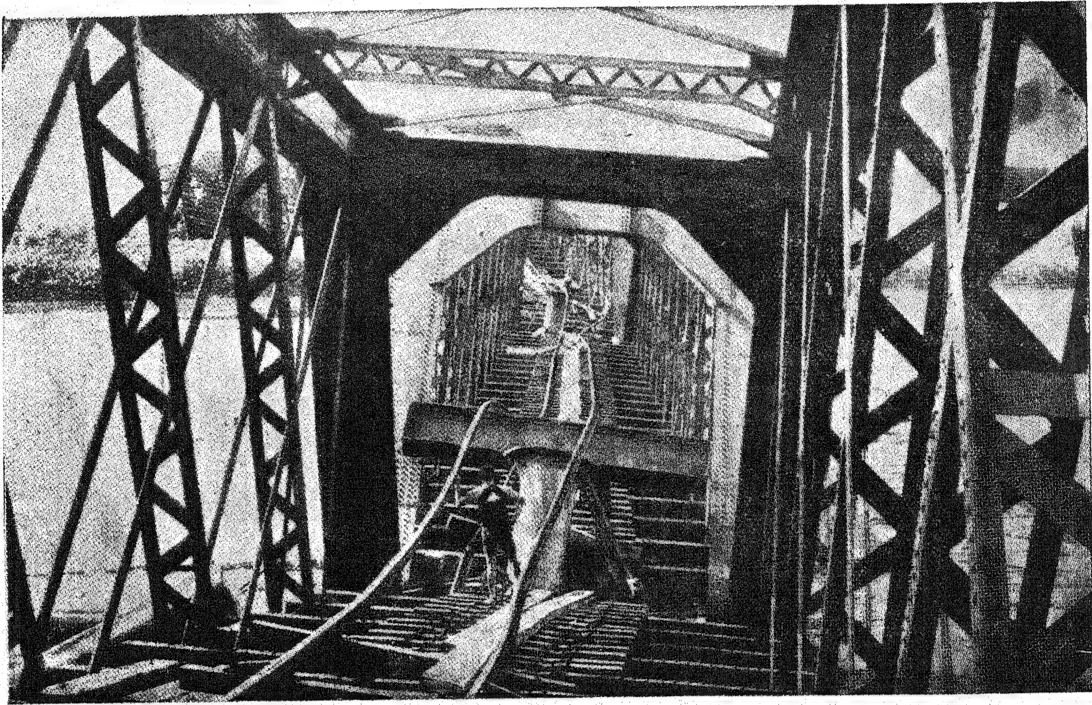
कम्पलेखक का प्रमुख भाग एक झूलता हुआ डण्डा होता है। इसे 'लंबक' अथवा 'पेण्डुलम' (Pendulum) कहते हैं। लंबक को एक चौखटे (फ्रेम) में इस प्रकार लटकाया जाता है कि चौखटा हिलने पर भी लंबक नहीं हिलता। लंबक के एक सिरे पर एक पेंसिल अथवा आईने का एक खण्ड लगा रहता है जिसके द्वारा प्रकाश-किरण परावर्त्तित हो जाती है। पेंसिल अथवा प्रकाश-किरण घूमते हुए बेलन पर लिपटे काग़ज़ या फ़ोटोफ़िल्म पर रेखा अथवा छाया अंकित करती रहती है। जब भूकम्प नहीं होता तब काग़ज़ पर सीधी रेखा खिंचती है। जब भूकम्प होता है तब बेलन हिलता है और काग़ज़ पर रेखा टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है। बेलन का घूमना घड़ी से सम्बन्धित रहता है और इस प्रकार रेखा का समय स्वयं ही अंकित होता जाता है। प्रति दिन विशेषज्ञों द्वारा इन कम्पलेखों का निरीक्षण होता है।

भूकम्प बिना किसी भी प्रकार के पूर्वाभास के सहसा ही आरम्भ हो जाता है। एक प्रकार की गड़गड़ाहट की-सी ध्वनि सुनाई पड़ती है, जो क्षणभर में गंभीर गर्जन का रूप धारण कर लेती है। इसी के साथ-साथ धरती

कँपकँपाने लगती है और क्षणभर में वेग से हिलने लगती है। मकान, खम्भे, दरवाज़े, खिड़की, पेड़, तार आदि सभी वस्तुएँ डगमग-डगमग होने लगती हैं। धरती की डगमगाहट कभी-कभी इतनी तीव्र होती है कि खड़े रहना कठिन हो जाता है और बहुत-से मनुष्यों को उलटी होने लगती है। मैदान में खड़े होकर धरती को लहराते हुए प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। क्षणभर में ही कम्प का वेग इतना अधिक हो जाता है कि वृक्षों की चोटियाँ धरती चूमने लगती हैं और वे जड़ से उखड़कर गिरने लगते हैं। मकानों की दीवारें अधिक न झुक सकने के कारण धराशायी हो जाती हैं। छतों के गिरने से मनुष्य दब जाते, जनपथ अवरुद्ध हो जाते हैं और पल-भर में दृश्य विचित्र रूप से बदल जाते हैं। धरती में स्थान-स्थान पर दरारें हो जाती हैं, जिनमें कहीं कम और कहीं बहुत चौड़े विवर स्थाई रूप से खुले रह जाते हैं। इन दरारों से कहीं वेग से जल का स्राव होता है और कहीं कीचड़ और बालू का। कहीं मकान सहित धरती धँस जाती है, और मकानवाले जीवित समाधि ग्रहण कर लेते हैं, कहीं धँसी हुई भूमि में जल भरकर झील का रूप धारण कर लेता है। भूकम्प-तरंगों के साथ-साथ धरती में दरारें होती हैं और मुँद जाती हैं। इन दरारों में कहीं-कहीं विचित्र दृश्य और घटनाएँ होती हैं। एक क्षण में लोग दरारों के भीतर समा जाते हैं और जो अति भाग्यवान् होते हैं वे किसी अदृश्य शक्ति द्वारा पुनः दरार के बाहर पटक दिए जाते हैं। नदियाँ अपना मार्ग पलट देती हैं और कहीं-कहीं उनकी तली की भूमि ऊपर उठकर जलप्रवाह को रोककर नदी को झील में परिणत कर देती है। कहीं नदी के मार्ग में इतनी गहरी और चौड़ी खाई हो जाती है कि नदी का समस्त प्रवाह उसी में विलुप्त हो जाता है। कहीं नए-नए झरने उत्पन्न हो जाते हैं और कहीं जलधारा की वेगपूर्ण फुहार छूटती दिखाई देती है। रेल की पटरियाँ विचित्र ढंग से मरोड़ी हुई दिखाई पड़ती हैं। कहीं-कहीं नदियों पर बने पुल खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और कभी-कभी पुल का कुछ भाग नीचे धँस जाने पर भी पुल टूटता नहीं, वरन् कामचलाऊ बना रहता है। कभी-कभी सम्पूर्ण मकान, बाग़-बग़ीचे आदि खिसककर मील-दो मील आगे-पीछे चले जाते हैं और उनके निवासियों को तनिक भी असुविधा नहीं होती। इसी प्रकार की अगणित विचित्र घटनाएँ भूकम्पकाल में घटित हो जाती हैं और इनके घटने में उससे भी कम समय लगता है जितना उनके वर्णन करने में लगता है। भूकम्प द्वारा सबसे अधिक नरसंहार घने बसे नगरों में होता है। सहस्रों मनुष्य ऊँची-ऊँची इमारतों के भग्नावशेषों के नीचे दबकर प्राण देते हैं। यह भीषण विपत्ति इतनी अकस्मात् होती है कि लोग भाग सकने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। प्रबल भूकम्प का धक्का इतना प्रचण्ड होता है कि जब तक लोग उसकी भीषणता का अन्दाज़ा लगा सकें तब तक वे विपत्ति से घिरकर असमर्थ हो जाते हैं। भारत में पिछले ९-१० वर्षों में दो भीषण भूकम्प घटित हो चुके हैं—बिहार और क्वेटा में—जो हमारी स्मृति में कल की सी घटना की भाँति ताज़े हैं। इनके प्रलयकारी विनाश का हाल सुन-सुनकर हम काँप जाते थे और उनके करुण



१९३१ के धुबरी-भूकंप के समय रंगपुर (बंगाल) के समीप भूकंप के प्रभाव से रेलवे-लाइन के टेढ़ी-मेढ़ी हो जाने का अद्भुत दृश्य



जापान में एक भूकंप के फलस्वरूप रेलवे लाइन का एक विशाल पुल ऐसा बल खा गया था मानों किसी दानवीय शक्ति ने दोनों छोर से पकड़कर सलाख की तरह उसे मरोड़ दिया हो !

चित्र देख-देखकर हम रो पड़ते थे । परन्तु संसार में इनसे भी अधिक प्रचण्ड भूकम्प आ चुके हैं, जिनके विनाशकारी प्रभाव की अपेक्षा उपरोक्त भूकम्प क्षुद्र ही लगते हैं। परन्तु इस प्रकार के भूकम्प धरातल पर कभी-कभी ही आते हैं और जब कभी वे आ जाते हैं तब मानव समाज में त्राहि-त्राहि मच जाती है। मानवता पर वह ऐसा घाव होता है जो भर जाने पर भी अमिट छाप छोड़ जाता है। सहस्रों मनुष्यों और जीवों की दुर्घटनापूर्ण मृत्यु के साथ-साथ लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति का नाश भी होता है। आइए, इन अनर्थपूर्ण दुर्घटनाओं में से कुछ का संक्षिप्त हाल हम आपको सुनाएँ।

लिस्बन नगर में १७५५ ई० में एक महा प्रचण्ड भूकम्प हुआ था, जिसने ६ मिनिट के अल्प-काल में उस महानगरी को मटियामेट कर डाला था। ६०००० मनुष्यों से भी अधिक इस भूकम्प की भेंट चढ़ गए। नगर के पास की पर्वत-शृङ्खलाओं के शिखर खण्ड-खण्ड होकर नीचे घाटियों में ढुलक पड़े और पर्वत-शृङ्खलाएँ चौड़ी-चौड़ी दरारों से भर गईं। भूकम्प से आतंकित सहस्रों नर-नारियों ने समुद्र-तट पर संगमरमर के बने एक चौड़े घाट पर शरण ली। परन्तु दुर्भाग्य ने उनका पीछा वहाँ भी न छोड़ा। क्षणभर में सहस्रों लोगों को लिये हुए यह विशाल घाट जल में इस प्रकार विलुप्त हो गया कि एक भी जीव का शव तक तैरता हुआ दिखाई न दिया। समस्त योरप से चार गुने अधिक विस्तार के क्षेत्रफल में इस भूकम्प का प्रबल धक्का लगा।

लिस्बन के निकट, भूकम्प-काल में, सागर में एक विशेष खलबली मची और फलतः एक अति वेगवती दैत्याकार तरंग उठकर भूकम्प के कुछ क्षण उपरान्त ही २० गज़ ऊँची पानी की भीत के रूप में तट से भीषण रूप में टकराई। दैत्याकार तरंग के वेग में पड़े सैकड़ों जलयान, नौकाएँ और बजड़े भूमि पर ला पटके गए। जब यह तरंग लौटने लगी तब वह अगणित नर-नारियों को अपने साथ बहा ले गई। केवल लिस्बन नगर में ही नहीं, इस प्रकार की तरंगों का उत्पात ग्रेटब्रिटेन, आयर्लैण्ड और पश्चिमी द्वीप-समूह के तटों पर भी भीषण रूप से हुआ। आयर्लैण्ड के किंसेल नामक स्थान पर सागर का जल बन्दरगाह में इस वेग से बढ़ा कि घाट को पार करके शहर के भीतर हाट तक फैल गया। अनेकों जल-

यानों, नौकाओं और बजड़ों को क्षति पहुँची। पश्चिमी द्वीपों के तट पर साधारणतः ज्वार के वेग के कारण २ फ़ीट ऊँची तरंग आती है, परन्तु इस भूकम्प के धक्के से सहसा २० फ़ीट ऊँची ज्वार-तरंग भयंकर काले दैत्य के रूप में तट पर चढ़ आई। इस भूकम्प के प्रभाव से अमेरिका की झीलों तक में ज्वार उत्पन्न हुआ।

इटली और जापान में कुछ प्रचण्ड भूकम्पों के कारण महान् हानि हुई है। जापान में तो लगभग नित्य ही भूकम्प आते हैं। इटली के कालाब्रियन प्रायद्वीप में फ़रवरी १८८३ से दिसम्बर १८८६ तक भूकम्प के कई आघात लगे। सिसिली टापू के मेस्सीना नगर में इन भूकम्पों का विशेष प्रभाव हुआ। कहा जाता है कि भूकम्प के प्रथम आघात से ही २ मिनिट के समय में कालाब्रिया अल्ट्रा में एपिनाईन्स के पश्चिमी पार्श्व से लेकर मेस्सीना नगर तक जितने भी गाँव, क़स्बे और नगर थे सब मटियामेट हो गए। बड़ी-बड़ी सभी अट्टालिकाएँ धूलि-धूसरित हो गईं और भूमि विचित्र रूप से नीची-ऊँची हो गई। इसके छः सप्ताह उपरान्त ही एक दूसरा भूकम्प हुआ और उसके प्रभाव से कालाब्रिया की ग्रेनाइट पाषाण-श्रेणियों में नौ-दस मील लम्बा एक गर्त उत्पन्न हो गया। जल की भाँति ही धरातल भी लहराता दिखाई देता था। राजमार्ग में बिछे पाषाण-खण्ड उलट-पुलट हो गए थे। कुछ इमारतों के आधे भाग धँस गए थे और आधे ज्यों-के-त्यों लटके रह गए थे। एक-दो को छोड़कर लगभग सभी मकान चूर-चार हो गए थे। स्थान-स्थान पर रंध्र और गर्त बन गए थे। अनेकों रंध्र तो केवल क्षणभर के लिए खुले और मकानों, पशुओं तथा मनुष्यों को हड़पकर फिर तुरन्त बन्द हो गए, मानों किसी दानव ने भक्षण के लिए अपना मुख खोलकर फिर बन्द कर लिया हो! इससे भी विचित्र दृश्यों का अभाव न था। एक-दो स्थानों पर होनेवाले रंध्रों में समा गए मनुष्य क्षणभर में फिर बाहर फेंक दिए गए और सो भी एकदम अक्षतावस्था में! एक गज़ व्यास के अगणित छोटे गर्तों की स्थान-स्थान पर रचना हो गई, जिनसे जल, बालू और कीचड़ उफ़नता था। नदियों के मार्ग अवरुद्ध हो जाने से स्थान-स्थान पर झीलों और सरोवरों की रचना हो गई, जिनकी संख्या लगभग २१५ थी। इनमें से एक झील का विस्तार तो दो मील



१९३४ के प्रसिद्ध बिहार-भूकंप के अवसर पर मुज़फ़्फ़रपुर के कलक्टर के बँगले के हाते की ज़मीन के कई फ़ीट नीचे धँस जाने का दृश्य। देखिए, पृष्ठभूमि में कोई वृक्ष झुककर गिर पड़ा है तो कोई टेढ़ा हो गया है!

लम्बी और एक मील चौड़ी भूमि में था। एक स्थान पर ज़ैतून के वृक्षों की एक सम्पूर्ण वाटिका सैकड़ों फ़ीट नीची घाटी में खिसक गई। फिर भी अगले वर्ष इन वृक्षों पर अच्छी फ़सल निकली। एक समूचा घर, गृहवासियों सहित, २०० फ़ीट नीचे ख़न्दक में चला गया और आश्चर्य की बात यह थी कि किसी पर तनिक भी आँच न आई—न घर को और न मनुष्यों को! इसी प्रकार पोलिस्टिना नगर का अधिकांश भाग नदी पार आधा मील दूर खिसक गया और पीछे भग्नावशेष खोजने पर उसमें अनेकों नगर-निवासी जीवित पाए गए! भूमि का रूप इस प्रकार उलट-पुलट हो गया था कि वहाँ की सरकार को लोगों की ज़मीन-जायदाद की सीमा निर्धारित करने के लिए १० लाख एकड़ भूमि की नए सिरे से पैमाइश करानी पड़ी थी।

१८२२ ई० में भूकम्प के आघात से चिली प्रदेश की समुद्र-तट की जलमग्न भूमि स्थाई रूप से ऊँची हो गई। १००००० वर्गमील भूमि सागर से निकलकर स्थल में सम्मिलित हो गई। सुप्रसिद्ध भूतत्त्ववेत्ता लियल ने इस भूखण्ड का आयतन लगभग ५७ घन मील आँका था, अर्थात् 'महान् पिरामिड' से १००००० गुना अधिक।

मिसिसिपी नदी की घाटी में १८११-१२ ई० में अनेक बार प्रबल भूकम्पों के आघात हुए। उन दिनों यदि उस स्थल की जन-संख्या आजकल की-सी घनी होती तब तो जनहानि का वारापार न होता। भूकम्प के आघातों से धरती में इतनी अधिक रंध्रें उत्पन्न होती थीं कि लोग वृक्ष काट-काटकर धरती पर बिछा देते थे, जिससे दरारों को पार करने में वृक्षों के तने पुल का काम दें।

भारत में १८९७ में, आसाम में भीषण भूकम्प आया था जो बिहार और क्वेटा की अपेक्षा कहीं अधिक प्रलयात्मक था। १२ जून को आसाम प्रान्त के पश्चिमी भाग में २॥ मिनिट तक जारी रहकर इस दुर्घटना ने महासर्वनाश उपस्थित कर दिया। शिलांग नगर इसका प्रमुख शिकार हुआ। शिलांग का ध्वंस होने के पूर्व ही १५०००० वर्गमील भूमि तक इसका प्रकोप फैल चुका था। यातायात के सभी साधन नष्ट-भ्रष्ट हो गए। पहाड़ियों से सहस्रों पाषाण घाटियों में लुढ़क पड़ते थे। मैदानों में लम्बी-चौड़ी दरारें हो गई थीं, जिनसे जल और बालू की अपार राशि उफ़न-उफ़नकर बाहर निकलती थी। भूकम्प का आघात इतना प्रचण्ड था कि लोग विस्मय से अवाक् रह गए थे। धरती में ऐसे-ऐसे विचित्र ऊँचे-नीचे आकार बन गए थे जिन्हें देखकर विश्वास करना कठिन होता था कि क्षणभर की सूक्ष्म अवधि में इतना महान् परिवर्तन हो सकता था। इसके अतिरिक्त १९०६ के काँगड़ा के भीषण भूकंप में, तथा अभी हाल के बिहार (१९३४) तथा क्वेटा (१९३५) के भूकंपों में भी लाखों जन हताहत हुए और हज़ारों गाँव ढह पड़े थे, जिनकी याद अभी तक ताज़ा बनी हुई है। इसी प्रकार के महाविनाशकारी भूकम्प संसार के विभिन्न प्रदेशों में आते रहे हैं, जिन सबका वर्णन करना यहाँ संभव नहीं है। उपरोक्त दृष्टान्त तो केवल उन भूकम्पों के दिए गए हैं, जो आधुनिक काल में, अभी कल की-सी घटना के रूप में धरातल पर घटित हुए हैं। आरंभिक युगों के भूकम्पों के वर्णन कहीं-कहीं इतिहास की पुस्तकों में देखने में आते हैं। हाल ही में १९०८ का मेस्सीना नगर का भूकम्प, जिसमें ७७ हज़ार मनुष्य मरे थे, १९२३ का टोक्यो (जापान) का भूकम्प, जो आधुनिक युग का संभवतः सबसे प्रलयंकर भूकम्प था, तथा उसी वर्ष का कांसू नगर का भयानक भूकम्प भुलाए भी नहीं भूल सकते। इनमें से प्रत्येक में लाख-डेढ़ लाख जन हताहत हुए थे।

भूमि के ठोस भाग पर तो भूकम्प आते ही हैं, बहुत-से भूकम्प सागर की तली में भी आया करते हैं। इन भूकंपों के प्रभाव से सागर में पड़े हुए तार (Cables) टूट जाते हैं तथा तली में विशाल गर्तों की रचना हो जाती और फलतः महाप्रलयकारी तरंगों का जन्म होता है। जब ये तरंगें स्थल-तट पर जाकर टकराती हैं तब इनके द्वारा भूकम्प से भी अधिक सर्वनाश होता है जैसा कि ऊपर लिस्बन के भूकम्प के हाल में आप जान चुके हैं। जापान के निकट समुद्र के एक निचले भाग में, जिसे 'टस्कारोरा गर्त' कहते हैं, १८९६ में एक प्रबल भूकम्प हुआ था। इसके फलस्वरूप तीन विशाल दैत्याकार तरंगों का उत्थान हुआ। सबसे प्रबल तरंग ५० फ़ीट ऊँची थी। जापान के तट पर पहुँचकर इसने क्षण भर में २०००० मनुष्यों और १२००० इमारतों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। इस भूकम्प के आघात के पौने आठ घंटे उपरान्त ३५९० मील दूर होनोलूलू और १०॥ घंटे बाद ४७९० मील दूर सेन फ्रेंसिस्कों में ज्वार-तरंगों का प्रचण्ड वेग हुआ था!

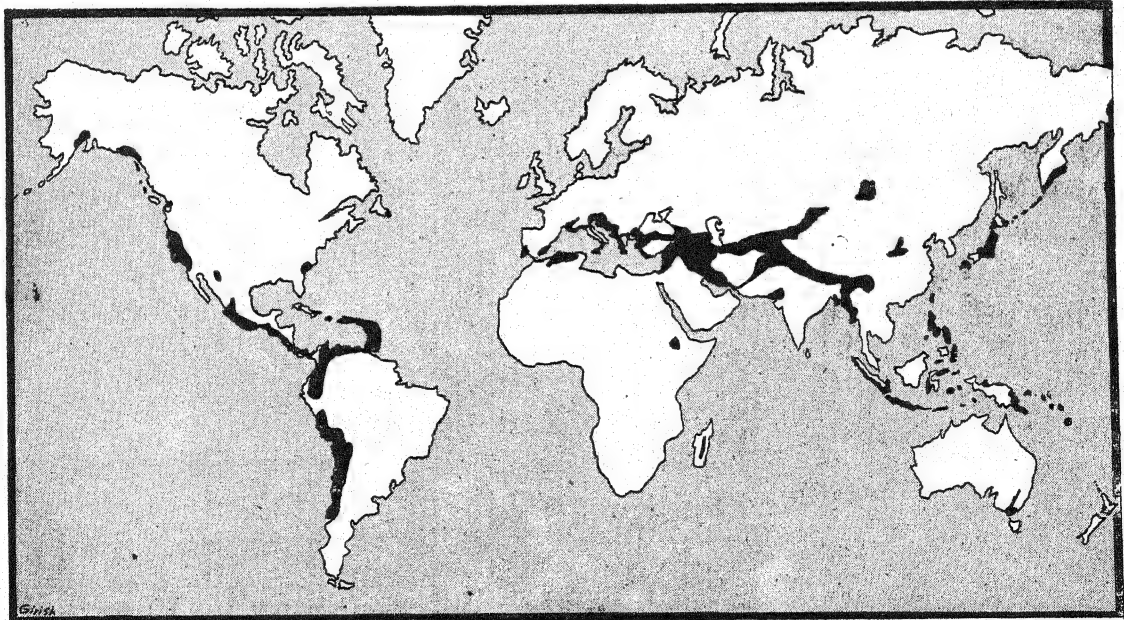
भूकम्पों के सम्बन्ध में खोज करने पर यह प्रतीत हुआ है कि धरातल के कुछ विशेष भागों ही में भूकम्पों के आघात विशेष रूप से आते हैं। जिस प्रकार ज्वालामुखी पर्वतों का विस्तार धरातल के कुछ विशेष भागों में है,

उसी प्रकार भूकम्पों का प्रकोप भी कुछ विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित है। धरातल के मानचित्र पर अंकित भूकम्पों का क्षेत्र देखने से प्रतीत होता है कि इसका सम्बन्ध धरातल के पर्वतों और समुद्र-तटों से विशेष रूप से है। भूकम्प के क्षेत्र और ज्वालामुखी पर्वतों के क्षेत्र धरातल के कुछ भागों में समस्थलीय हैं, परन्तु कुछ स्थानों में इनमें इतना अधिक अन्तर पड़ गया है कि भूकम्पों का ज्वालामुखी पर्वतों से किसी प्रकार का सरल सम्बन्ध स्थापित करना उचित नहीं प्रतीत होता।

भूकम्प-क्षेत्रों की दो प्रमुख पट्टियाँ प्रशान्त महासागर को घेरे हुए हैं। इनमें से एक अमेरिका महाद्वीप के पश्चिमी तट के साथ अलास्का से चिली के दक्षिण तक चली गई है। इस पट्टी का कुछ अंश ऐसा है, जहाँ भूकम्प या तो होते ही नहीं और जब होते भी हैं तब सूक्ष्म कम्पों के रूप में। ब्रिटिश कोलम्बिया, वाशिंगटन, ओरेगान, दक्षिण कैलिफ़ोर्निया, मेक्सिको का उत्तरी तट तथा पनामा जलडमरूमध्य आदि ऐसे प्रदेश हैं, जहाँ कभी भी कोई भीषण भूकम्प नहीं हुआ।

भूकम्प-क्षेत्रों की दूसरी पट्टी प्रशान्त महासागर के पश्चिम में कमचटका प्रायद्वीप से आरम्भ होकर एशिया के पूर्वीय तट की द्वीपशृंखला को घेरती हुई (परन्तु महाद्वीप के स्थल भाग से स्वतंत्र) ईस्ट इंडीज़ द्वीपसमूह, पालीनीशिया द्वीपपुञ्ज और न्यूज़ीलैण्ड द्वीपों में फैल गई है। यह निश्चय नहीं हो सका है कि उपरोक्त दोनों पट्टियाँ अटलाण्टिक महासागर में पहुँचकर मिल गई हैं अथवा नहीं।

उपरोक्त दोनों पट्टियों का विस्तार इन्हीं क्षेत्रों में फैली ज्वालामुखी की पट्टियों के लगभग समान ही है। परन्तु एक तीसरी पट्टी भी भूकम्पक्षेत्रों की है, जो धरातल को मध्य भाग में घेरती है और ज्वालामुखी-क्षेत्रों से दूर है। यह उपरोक्त दोनों पट्टियों से समकोण-सा बनाती है और भूमध्यरेखा के समानान्तर हो गई है। अटलांटिक और प्रशान्त महासागरों में पहुँचकर यह पट्टी अदृश्य हो गई प्रतीत होती है, परन्तु सम्भवतः सागर की तली में भूकम्पों की नाप-जोख न हो सकने के कारण ही इसे अदृश्य मान लिया गया है। इस पट्टी का विस्तार पिरेनीज़ पर्वत, दक्षिणी फ्रांस, पुर्त्तगाल, दक्षिणी स्पेन, मोरक्को का उत्तरी-पश्चिमी तट, इटली और आल्प्स पर्वत, बालकन प्रायद्वीप, एशिया माइनर तथा मध्य और पूर्वीय एशिया में है। इसी की एक शाख़ा ईरान होकर अफ़ग़ानिस्तान और उत्तरी भारत तक फैली है। यही आगे चलकर एशिया के पूर्वीय तट को चली गई है। एक दूसरी शाखा मध्य एशिया में फैली



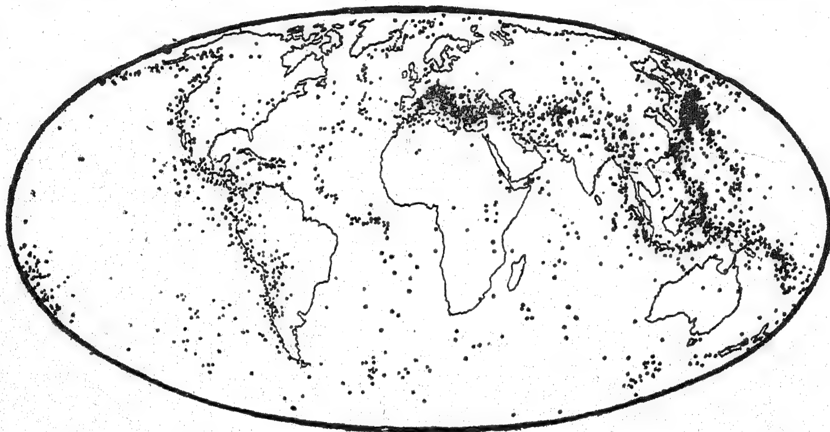
धरातल के भूकम्प-क्षेत्र (काले भाग भूकंप-प्रदेशों को सूचित करते हैं)

है। भूमध्यसागर के पूर्व में भूकम्पों का वह विस्तीर्ण क्षेत्र है, जहाँ सहस्रों मील तक कोई ज्वालामुखी नहीं है।

जापान, इटली और ग्रीस ऐसे देश हैं, जहाँ भूकम्पों की भरमार रहती है। जापान में तो भूचाल इतने अधिक होते रहते हैं कि टोकियो आदि शहरों में प्रायः लोग भूकंपों के बारे में ऐसे ही रोज़ चर्चा किया करते हैं जैसे हम लोग मौसम के बारे में करते हैं।

भूकम्प के क्षेत्र वास्तव में उन स्थानों के द्योतक हैं जहाँ भूकम्प बहुधा आते रहते हैं, परन्तु इसके अपवादस्वरूप ऐसे भी स्थान हैं जो इन क्षेत्रों के बाहर हैं, परन्तु जहाँ कभी (सौ-दो सौ वर्षों में) भूकम्प का कोई साधारण-सा आघात हो जाता है।

ज्वालामुखी पर्वतों के क्षेत्रों में भूकम्प उसी समय आते हैं जब कि ज्वालामुखी का उद्गार होने को होता है। भूगर्भ में अति उत्तप्त लावा, गैसें और भाप बाहरनिकल पड़ने के लिए जब ज़ोर लगाती हैं तब आसपास की भूमि थरथराने लगती है। जब तक उद्गार होता रहता है तब तक भूकम्प सवेग जारी रहता है और जैसे-जैसे उद्गार का वेग कम होता जाता है भूकम्प का वेग भी धीमा पड़ता जाता है। उद्गार के उपरान्त भूकम्प का तनिक भी आघात नहीं होता। ज्वालामुखी-क्षेत्रों के भूकम्प की एक विशेषता यह है कि उसका प्रकोप ज्वालामुखी के चारों ओर आसपास के क्षेत्रफल तक ही सीमित रहता है, चाहे कितना ही भीषण भूकम्प क्यों न हो। ज्वालामुखी के विस्फोट से उत्पन्न भूकम्प का अनुभव दूरस्थ प्रदेशों में विरले ही समय होता है। ज्वालामुखी-क्षेत्रों में आनेवाले भूकम्पों के दो-तीन उदाहरण उपरोक्त मत को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। १८८३ में इस्त्रिया नामक टापू, जो नेपल्स की खाड़ी में स्थित है, एक प्रचण्ड भूकम्प के भयानक वेग से हिल उठा। इस भूकम्प के आघात से कैसामिशिओला नामक नगर का पूर्णतया विध्वंस हो गया, जिससे सहस्रों नर-नारी अकाल मृत्यु को प्राप्त हुए। परन्तु इस भीषण भूकम्प का २२ मील दूर स्थित नेपल्स नगर पर तनिक भी प्रभाव नहीं हुआ। नेपल्स में भूकम्प का आघात भी यों ही सूक्ष्म-सा अनुभव हुआ। इसी प्रकार १८६८ में मओनालोआ नामक ज्वालामुखी के उद्गार के समय हवाई द्वीप का दक्षिणी अर्द्ध भाग विकट वेग से प्रकम्पित हो उठा। उद्गार के ६ दिन पूर्व ही से भूकम्प के धक्के आने आरम्भ हो गए थे, जो प्रति बार अधिकाधिक प्रचण्ड होते जाते थे। जैसे-जैसे उद्गार का समय निकट आता गया इनका वेग महाभीषण होता गया और इसके फलस्वरूप विध्वंस और सर्वनाश के दृश्य उपस्थित होने लगे। परन्तु जब उद्गार आरम्भ हुआ तब भूकम्प का वेग अति शीघ्र कम हो गया। इतने प्रचण्ड और विध्वंसकारी भूकम्पों के आघात भी अधिक क्षेत्रफल में नहीं फैले। स्वयं हवाई द्वीप का ही उत्तरीय भाग अक्षत और शान्त बना रहा। यहाँ तक कि १५० मील की दूरी पर तो इन आघातों को किसी ने जाना भी नहीं।

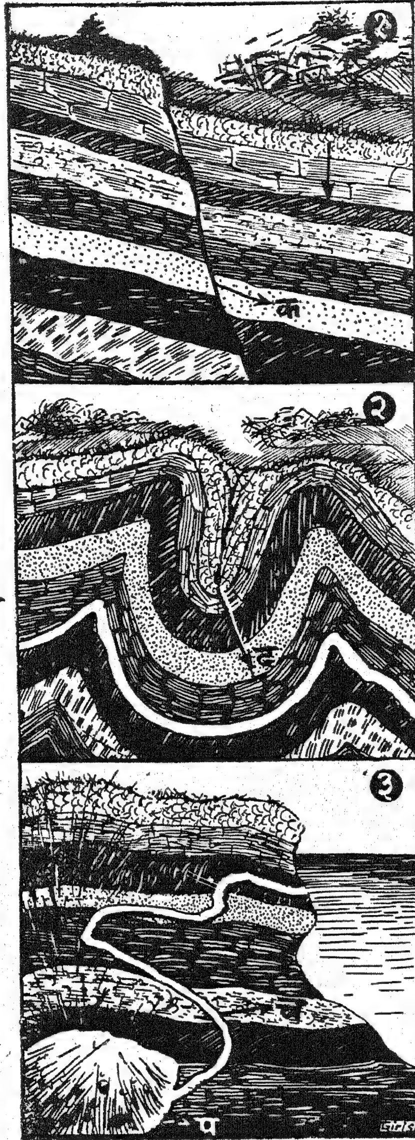


पिछले तीस वर्षों में संसार के भिन्न-भिन्न भागों में उठे भूचालों का मानचित्र
काले विन्दु भूकंप-केन्द्र के सूचक हैं। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इनमें से अधिकांश कंप केवल सीस्मोग्राफ़ द्वारा ही जाने गए थे, सामान्य लोगों को उनका पता भी न चला होगा। कुछ कंपों का ही, जो भीषण रहे होंगे, आभास जनसाधारण को मिला होगा।

मध्य अमेरिका में आनेवाले अति प्रचण्ड भूकम्प भी इसी प्रकार एक संकीर्ण क्षेत्रफल तक ही सीमित रहते हैं। इटना, विसुवियस तथा अन्य ज्वालामुखी पर्वतों के उद्गारकाल में भी इसी प्रकार के भूकम्प आए हैं। किन्तु कतिपय उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें

स्पष्टतया ज्वालामुखी की प्रतिक्रिया से उत्पन्न भूकम्प का प्रभाव हज़ारों मील तक पड़ते देखा गया है। १८८३ ई० का सुप्रसिद्ध क्राकाटोआ द्वीप का विस्फोट ऐसी ही एक प्रचण्ड घटना थी। यह द्वीप जावा और सुमात्रा के बीच सुण्डा जलडमरूमध्य में अवस्थित था। कहते हैं, उस पर स्थित रॉकोटा नामक सुप्त ज्वालामुखी २०० वर्ष तक प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न रहने के बाद एकाएक जग पड़ा और लगभग तीन महीने तक ज़ोरों के धड़ाकों के साथ जलती हुई धूलि, कीचड़ और कंकड़-पत्थर बरसाता रहा। उसके ये धड़ाके दिन-पर-दिन बढ़ते रहे। तब एकाएक समुद्र का पानी उबलती लावा के साथ जा मिला और गर्त्त में शक्तिशाली बाष्प का अगाध भण्डार भर जाने पर आख़िर एक दिन ऐसे ज़ोर का विस्फोट हुआ कि सारा-का-सारा द्वीप टुकड़े-टुकड़े उड़ गया और सागर में अंतर्द्धान हो गया। इस घटना से आसपास के क्षेत्र में तो भूचाल की अति प्रचण्ड लहरें उठीं ही, किन्तु सबसे अचरज की बात तो यह थी कि उसके धक्के से समुद्र में एक ऊँची लहर उमड़कर ८००० मील दूर अफ्रीका के केप हॉर्न और कोलम्बो के तट तक टकराई और उसकी धूलि की आँधी तो सारी पृथ्वी की परिक्रमा कर आई!

ज्वालामुखी-क्षेत्रों में भी कभी-कभी ऐसे भूकम्प आते हैं जिनका सम्बन्ध किसी ज्वालामुखी के विस्फोट से नहीं होता।



साधारण भूकंप के तीन प्रधान कारण

(१) चट्टानों के पर्त्त में किसी भ्रंश (Fault) ('क') के फलस्वरूप एकाएक दबाव के कारण उक्त पर्त्त के किसी भाग का खिसक जाना; (२) पृथ्वी के चिप्पड़ के सिकुड़ने ('द') से चट्टानों की पर्त्तों में प्रस्तुत अव्यवस्था; (३) किसी दरार की राह से समुद्रजल के पृथ्वी के गर्भ की अति उष्ण या पिघली हुई चट्टानों ('प') तक जा पहुँचने के फलस्वरूप भीषण विस्फोट के कारण ऊपरी सतह का हिल उठना।

इन भूकम्पों का वेग तथा ध्वंसात्मक प्रभाव उसी प्रकार का होता है जैसा ज्वालामुखी के क्षेत्रों के बाहर के प्रदेशों में आने वाले भूकम्पों का होता है। इन भूकम्पों के आने के कारण भी वही हैं जो अन्य साधारण भूकम्पों के हैं।

साधारण भूकम्पों का कारण भूगर्भ में होनेवाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप पृथ्वी के कठोर चिप्पड़ की चट्टानों की स्थिति में सहसा परिवर्त्तन हो जाना है। इन अदृश्य क्रियाओं के कारण चिप्पड़ की चट्टानों पर दबाव और खिंचाव पड़ता है, जिसके कारण चट्टानें किसी एक विशेष रेखा पर इधर-उधर या ऊपर-नीचे खिसकने लगती हैं। जब दबाव या खिंचाव डालनेवाली शक्ति विरोधी शक्ति पर विजय प्राप्त कर लेती है तब अकस्मात् ही चट्टानें एक रेखा पर टूट-सी जाती हैं और तभी इस आघात से भूमि में कम्प उत्पन्न हो जाता है। साधारण भूकम्प के प्रमुख आघात के उपरान्त भी अल्पकालीन कम्प के आघात होते रहते हैं। टूटी हुई चट्टानों की स्थिति जब तक स्थाई नहीं हो जाती तब तक ये कम्प आते रहते हैं, क्योंकि चट्टानों की डावाँडोल स्थिति कम्प उत्पन्न करती है।

जिस रेखा पर चिप्पड़ की चट्टानें टूटती या खिसकती हैं उसे भ्रंश (Fault) कहते हैं। लगभग सभी बड़े-बड़े भूकम्पों में इस प्रकार के भ्रंश होते हैं। कहीं-कहीं ये भ्रंश धरती की

ऊपरी सतह तक दिखाई पड़ते हैं। १६०६ के सैन फ्रैंसिस्को के भूचाल में इस भ्रंश-रेखा के ऊपर धरती में एक चौड़ी दरार हो गई थी। इस रेखा की एक ओर की भूमि दक्षिण की ओर खिसक गई थी। प्रत्येक सड़क, पाईप, भीत आदि जो भी इस रेखा को पार करती थी दो खण्डों में बँटकर उत्तर-दक्षिण हट गई। कहीं-कहीं इन दोनों खण्डों में २१ फ़ीट तक का अन्तर हो गया। इसी प्रकार के दृश्य आसाम और जापान के भूकम्पों के समय भी देखने में आए। कहीं-कहीं भूमि खड़ी ऊपर-नीचे हो जाती है, जैसे अलास्का के १८८६ के भूकम्प में समुद्र का एक भाग ४७ फ़ीट ऊँचा उठ गया था।

इन भ्रंशों और दरारों के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में मतभेद है। कुछ वैज्ञानिक इन भ्रंशों को भूकम्प का कारण मानते हैं और कुछ भूकम्पों के कारण इनकी उत्पत्ति बताते हैं। जो कुछ भी हो यह सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं कि भूकम्पों का एक प्रधान कारण चिप्पड़ की चट्टानों पर पड़नेवाला दबाव या खिंचाव है।

जहाँ-जहाँ उच्च पर्वत-श्रेणियाँ गहरे ढालों से होकर अत्यन्त गहराईवाले सागरों से मिली हैं वे प्रदेश विशेषकर प्रबल भूकम्पों के क्षेत्र हैं। इसका कारण यह है कि गहरे ढालों के नीचे का चिप्पड़ ऊँचे पर्वतों के भार से नीचे सागर में ढकेले जाने का उपक्रम करता है। दक्षिण अमेरिका का पश्चिमी तट इसी कारण असंख्य प्रचण्ड भूकम्पों का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में गगनचुम्बी पर्वत-श्रेणियाँ सागर-तट के एकदम ऊपर खड़ी हैं और महाद्वीपीय प्रदेश इतना कम चौड़ा है कि तट से १० मील के बाद ही सागर की असीम गहराई आरम्भ हो जाती है। इसी प्रकार जापान के पूर्वीय तट के निकट ही ४६५५ पोरस (२८००० फ़ीट) गहरा 'टस्कारोरा गर्त्त' नामक समुद्र का भाग है जिसके कारण जापान भूकम्पों का क्षेत्र बना हुआ है। फ़िलीपाइन द्वीपों के पश्चिमी तट के टापुओं के समीप तो एक गर्त्त और भी अधिक गहरा है—उदाहरण के लिए मिंडानो द्वीप से केवल पचास मील की दूरी पर ३५,४०० फ़ीट गहरा एक दह है, जिसमें पूरा एवरेस्ट पर्वत डूब सकता है! ये गर्त्त प्रायः कगारों के खिसकने के फलस्वरूप भूकंपों के कारण बन जाते हैं।

चिप्पड़ के भीतर चट्टानों पर दबाव और खिंचाव किस प्रकार और किन क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होता है यह प्रश्न हल करने में अभी तक वैज्ञानिक असमर्थ रहे हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व तक तो इस समस्या को हल करने के लिए यह दलील दी जाती थी कि पृथ्वी के धीरे-धीरे ठण्डा होकर सिकुड़ने से जो दबाव उत्पन्न होता है उसीसे चिप्पड़ की चट्टानें टूट जाती हैं अथवा ऊपर उठकर पर्वत-श्रेणियाँ बनाती हैं, इसी कारण भूकम्प होता है। परन्तु आजकल वैज्ञानिकों ने इस दलील को लचर माना है, साथ ही इसके स्थान पर वे और कोई उपयुक्त दलील देने में भी असमर्थ हैं। इस प्रकार भूगर्भ की वे क्रिया-प्रतिक्रियाएँ अभी तक रहस्यमय ही बनी हुई हैं, जिनके फलस्वरूप धरातल पर भूकम्प और ज्वालामुखी जैसी विध्वंसक और विनाशकारी घटनाएँ घटित होती हैं और मनुष्य को, जिसने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का दावा किया है, सदैव आशंकित बनाए रखती हैं।

संसार के सभी ज्ञात भूकम्पों की तालिका देने के लिए तो यहाँ पर्याप्त स्थान नहीं है। हाँ, पिछले चार सौ वर्षों में हमारे देश भारतवर्ष में जिन बड़े विनाशकारी भूचालों के घटित होने का लेखा मिलता है उनकी सूची पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दी जा रही है:—

जुलाई ६, १५०५ ई०—बहुत प्रचण्ड। क्षेत्र आधुनिक संयुक्त प्रान्त से लेकर ईरान तक। आगरा और दिल्ली में भी धक्के लगे।

मई, १६६८ ई०—क्षेत्र सिंधु नदी का डेल्टा। महान् हानि।

जुलाई १५, १७२० ई०—दिल्ली में क़िले की दीवारों को हानि पहुँची। कई जानें गईं।

अक्टोबर ११, १७३७ ई०—कलकत्ते में धक्के लगे। साथ में तूफ़ान भी उठा। कई आदमी मारे गए।

अप्रैल २, १७६२ ई०—बंगाल और बर्मा। चटगाँव में सबसे अधिक हानि हुई।

सितम्बर १, १८०३ ई०—संयुक्त प्रान्त। मथुरा में सबसे प्रचण्ड धक्के लगे। कुतुब मीनार (दिल्ली) को भी हानि पहुँची।

जून १६, १८१९ ई०—कच्छ। सारे भारतवर्ष में भूकंप का अनुभव हुआ। कच्छ की आखात में बाढ़ आ गई और बहुत-सी भूमि जलमग्न हो गई। केवल भुज शहर में ही दो हज़ार आदमी मरे।

जून ६, १८२८ ई०—काश्मीर। बहुत प्रचण्ड। पीछे और भी धक्के लगे।

अगस्त २६, १८३३ ई०—बिहार और नेपाल। १९३४ ई० के भूकम्पवाले लगभग सारे क्षेत्र में असर हुआ, पर उतना प्रचण्ड नहीं।

फरवरी १६, १८४२ ई०—उत्तर-पश्चिमी हिन्दुस्तान। काबुल से दिल्ली तक। जलालाबाद और पेशावर में भीषण हानि।

अप्रैल १, १८४३ ई०—दक्खिन। दक्षिण भारत में इधर यही एक भूकम्प ऐसा हुआ जिससे काफ़ी क्षति पहुँची।

जनवरी २४, १८५२ ई०—ऊपरी सिंध प्रान्त। यह भूकंप साधारण था।

जनवरी १०, १८६९ ई०—आसाम। लगभग २५०,००० वर्गमील क्षेत्र पर असर पड़ा।

दिसंबर ३१, १८८१ ई०—बंगाल की खाड़ी।

मई ३०, १८८५ ई०—काश्मीर। ३००० जानें गईं।

दिसंबर २०, १८९२ ई०—चमन (बलूचिस्तान)।

जून १२, १८९७ ई०—आसाम। विस्तार की दृष्टि से संभवतः सभी भूकंपों में यह प्रचण्डतम था। लगभग १,७५०,००० वर्गमील भूमि पर इसका प्रभाव पड़ा। कलकत्ते में भी हानि हुई।

अप्रैल ४, १९०५ ई०—काँगड़ा। विस्तार १,६२५,००० वर्गमील। २०००० मनुष्य मारे गए। काँगड़ा, धर्मशाला आदि स्थान नष्ट-भ्रष्ट हो गए।

अक्टोबर २१, १९०९ ई०—बलूचिस्तान।

जुलाई ८, १९१८ ई०—श्रीमंगल (आसाम)।

फरवरी १, १९२९ ई०—उत्तर पश्चिमी हिमालय। एबटाबाद में विशेष क्षति। यह बहुत गहराई से उठा हुआ भूकंप था।

जुलाई ३, १९३० ई०—धुबरी (आसाम)। विस्तार ३५०,००० वर्गमील।

अगस्त २७, १९३१—बलूचिस्तान। २०० जानें गईं।

जनवरी १५, १९३४—उत्तरी बिहार। विस्तार १,९००,००० वर्गमील। लगभग बीस हज़ार आदमी मरे। मुंगेर, जमालपुर, मुज़फ़्फ़रपुर, आदि स्थानों में अपार क्षति। इस भूकंप के धक्कों का सारे उत्तरी हिन्दुस्तान में अनुभव हुआ। भारतीय इतिहास में यह सबसे प्रचण्ड भूकम्पों में से एक माना जाता है। इसके कारणों की जाँच के लिए भूगर्भशास्त्र के पंडितों ने काफ़ी दिमाग़ लड़ाया और कई ने यह मत सामने रक्खा कि हिमालय की पच्चीस-तीस हज़ार फ़ीट ऊँची दीवार के कुछ नीचे धँसने के कारण ही इस भूकंप का उत्पादन हुआ।

मई ३१, १९३५—क्वेटा (बलूचिस्तान)। विस्तार १००,००० वर्गमील। क्वेटा नगर में अपार जन-धन की हानि। कम-से-कम २५००० आदमी मरे। धक्के बहुत ही वेगवान और प्रचण्ड थे। इसका क्षेत्र यद्यपि बिहार-भूकंप के क्षेत्र जितना विस्तृत नहीं था तथापि इससे जन-हानि कहीं अधिक हुई। इस भूकंप का केन्द्र (epicentre) क्वेटा नगर के समीप ही था, फलतः वहाँ सबसे तेज़ धक्के लगे। सारा शहर नष्ट हो गया।

उपरोक्त भूकंपों में १८९७ का आसाम-भूकंप, १९०५ का काँगड़ा-भूकंप, १९३४ का बिहार-भूकंप और १९३५ का क्वेटा-भूकंप सबसे विकराल थे। बिहार और क्वेटा की घटनाएँ तो अभी कल की बातें-सी जान पड़ती हैं और उन प्रदेशों में अब भी उनकी छाप नहीं मिट पाई है। बिहार का दिल दहला देनेवाला धक्का जनवरी, १९३४, की १५ तारीख़ को दोपहर के लगभग सारे उत्तरी हिन्दुस्तान में लगा। कुछ क्षण के लिए तो जहाँ-जहाँ भी यह धक्का लगा सभी लोग काँप उठे, पर बिहार के त्रस्त प्रदेश के सिवा अन्य स्थानों के लोग उस समय अनुमान भी न कर सके कि इस दो मिनिट के कंपन ने एक विशिष्ट क्षेत्र में कैसा गज़ब ढहा दिया होगा। पता तो तब चला जब दिन पर दिन अख़बारों में विध्वस्त नगरों के करुण क्रन्दन की कहानी सुनाई पड़ने लगी। एक दिन जमालपुर के सर्वनाश की ख़बर आई तो दूसरे दिन मुंगेर और मुज़फ़्फ़रपुर की! कभी हताहतों की संख्या दस हज़ार बताई जाती तो दूसरे ही रोज़ पन्द्रह हज़ार तक संख्या पहुँचने का हृदयद्रावक समाचार मिलता! और यह सब तो केवल नगरों की बात थी—विस्तृत देहात के प्रदेशों का तो सच्चा हाल हफ़्तों और महीनों बाद सुनने को मिला। सबसे बुरी दशा मुंगेर शहर की हुई। हज़ारों मकान क्षण भर में गिर पड़े और न जाने कितने स्त्री-पुरुष-बच्चे उनके नीचे दब गए! जब मलवा हटाया गया तो हफ़्तों तक लाशें और घायल व्यक्ति नीचे दबे मिलते रहे! किसी-किसी परिवार के तो सब लोग मर मिटे। बहुतेरी स्त्रियाँ परदे के अभिशाप के कारण घर से बाहर न निकल पाईं और वहीं समाधिस्थ हो गईं। न केवल मुंगेर, मुज़फ़्फ़रपुर, जमालपुर, सीतामढ़ी, पटना आदि के ही हज़ारों मकान धराशायी हुए, बल्कि सुदूर बनारस और प्रयाग तक की कई इमारतों में दरारें पड़ गईं। हज़ारों वर्गमील भूमि का स्वरूप ऐसा बदल गया मानों हवाई जहाज़ों से गोलाबारी करके धरती तोड़-फोड़ दी गई हो। नदियों के मार्ग पलट गए। जहाँ जल था वहाँ थल दिखाई देने लगा और जहाँ थल था वहाँ जलधाराएँ बहने लगीं। जगह-जगह लंबी-

चौड़ी दरारें अपना दानवीय मुख खोले पेड़ों, झोपड़ियों आदि को उदरस्थ करते दिखाई दीं। कई स्थानों में धरती आठ-दस फ़ीट तक नीचे धँस गई। रेलों की पटरियाँ टेढ़ी-मेढ़ी हो गईं। पुल ऐसे बल खा गए मानों किसी ने हाथों से पकड़कर मरोड़ दिया हो। लाखों पेड़ धराशायी हो गए। जगह-जगह खेतों में बालू उमड़ आई, और यह सब केवल कुछ क्षणों में ही हुआ! कई चमत्कारपूर्ण अनोखी घटनाओं के भी समाचार प्रकाशित हुए। कहते हैं, गंगा-तट पर खड़े एक व्यक्ति ने भूकंप का धक्का लगते ही अपने सामने बह रही विराट् जलधारा को एकबारगी ही बालुकाराशि में विलुप्त होते देखा और मिनिट भर बाद पुनः बालू ग़ायब हो गई और जल ऊपर उमड़ आया! एक स्थान में पृथ्वी फटी और एक मोटरकार एकाएक धरती में समाकर ग़ायब हो गई। किन्तु आधे मिनिट बाद ही पुनः दरार खुली और मोटर वापस उछलकर बाहर निकल पड़ी! कई मकानों के आधे भाग तो ज़मीन चूमते दिखाई दिए और शेष का बाल भी बाँका न हुआ। कई जगह भूकंप के शुरू होने के पहले ऐसी भयंकर गड़गड़ाहट की आवाज़ सुनाई पड़ी मानों एक साथ ही कई सौ तोपें छूट पड़ी हों या आकाश में बमवर्षक हवाई जहाज़ों का एक जत्था उमड़ पड़ा हो! मुज़फ़्फ़रपुर में एक बारह वर्ष का लड़का भूकंप के दस दिन बाद मलबे के नीचे से खोदकर निकाला गया और जीवित पाया गया! इसी प्रकार जब शहर के आसपास की इमारतें धड़ाधड़ गिर रही थीं एक गर्भिणी के बच्चा पैदा हुआ और माता और शिशु दोनों सुरक्षित रहे। बिहार की भाँति नेपाल तथा हिमालय में भी भूकंप का प्रभाव अधिक विनाशकारी था, किन्तु उन प्रदेशों के विध्वंस का अधिक समाचार न मिल सका। सुनते हैं, काठमाण्डू के मकानों को काफ़ी हानि पहुँची और कई जानें भी गईं। इस भीषण विपत्ति के आघात से बिहार के वक्षःस्थल पर जो घाव हो गया, उसे भरते-पूरते काफ़ी समय लगा।

किन्तु अभी बिहार की चोट से देश तिलमिला ही रहा था कि लगभग सवा साल बाद ही क्वेटा-भूकंप की प्रलयंकर घटना ने फिर से सारे हिन्दुस्तान के रोंगटे खड़े कर दिए। यद्यपि इस भूकंप का प्रभाव बलूचिस्तान के कुछ भाग, विशेषकर क्वेटा नगर तक ही सीमित रहा तथापि उससे जो जनहानि हुई वह बिहार से भी अधिक कँपाने-वाली थी। बिहार की तरह यहाँ ग़ैर-सरकारी लोगों को पहुँचने न दिया गया, अतएव बहुत समय तक विनाश के परिमाण का कोई ठीक समाचार ही न मिला। कहते हैं, इस भूकंप का धक्का इतना प्रचण्ड था कि लोगों को मकानों से बाहर निकलने तक का अवसर न मिला और हज़ारों अपने ही घरों में ज़िंदा दफ़न गए! बाद के आँकड़ों से ज्ञात हुआ कि क्वेटा नगर की लगभग तीन-चौथाई आबादी इस दुर्घटना के कारण तबाह हो गई। भूकंप के बाद भी कई दिनों तक साधारण धक्के आते रहे।

क्वेटा और बिहार के बाद भारत में तो ईश्वर की कृपा से कोई उल्लेखनीय भूचाल नहीं आया, परन्तु संसार के अन्य भागों में हर साल कहीं-न-कहीं इस विनाश-कारी घटना की ताण्डव-लीला के समाचार अख़बारों में छपते ही रहते हैं। जनवरी २६, १६३६, के दक्षिणी अमेरिका के चिली प्रदेश का भूकंप और कुछ ही वर्ष पूर्व टर्की के अर्ज़िजान प्रदेश में आनेवाले भूचाल कम विनाशक न थे। अभी हाल ही में भूकंप के कारण टर्की के अदाबाज़ार नामक नगर के विध्वंस के समाचार प्रकाशित हुए हैं। इनके अतिरिक्त पृथ्वी के किसी न किसी भाग में कंप होने की सूचना तो नित्यप्रति वेधशालाओं में कंप-लेखकों द्वारा मिलती रहती है।

सच तो यह है कि काफ़ी सिर लड़ाने पर भी मनुष्य अभी अपने पैर के नीचे की धरती के भीतर के रहस्यों का संतोषजनक उद्घाटन नहीं कर पाया है। हमने करोड़ों-अरबों मील दूर ग्रह-नक्षत्रों के बारे में तो दूरदर्शक और रश्मिविश्लेषक यंत्र की सहायता से बहुत-कुछ बातें मालूम की हैं, परन्तु ४ हज़ार मील गहरे पृथ्वी के अंतराल के स्वरूप के बारे में हम अब भी केवल अंदाज़न् घोड़े ही दौड़ाया करते हैं। हमारे पूर्वज भूकंपों का कारण पृथ्वी को उठाए रखनेवाले शेषनाग और दिग्गजों का हिलना-डुलना मानते थे। प्राचीन मंगोलियन लोगों के मतानुसार भूकंप का कारण यह था कि पृथ्वी एक विशाल मेंढक की पीठ पर रक्खी है और जब कभी वह अपना सिर खुजाता, तभी धरती हिल उठती है! और जापान के किसान तो आज भी यह मानते हैं कि समुद्र में एक भीमकाय विराट् मत्स्य है जो क्रोध में आकर नीचे धरती को टक्कर देता है और इसी से जापानी द्वीप-समूह हिल उठता है! कौन जानता है कि विज्ञान की अटकलें लगानेवाला आज का भूगर्भशास्त्री भी इन्हीं लोगों की तरह निरे भ्रम में ही हो! क्योंकि अभी हमने प्रकृति को जाना ही क्या है?



भारतीय तथा विदेशी पक्षी—(३)

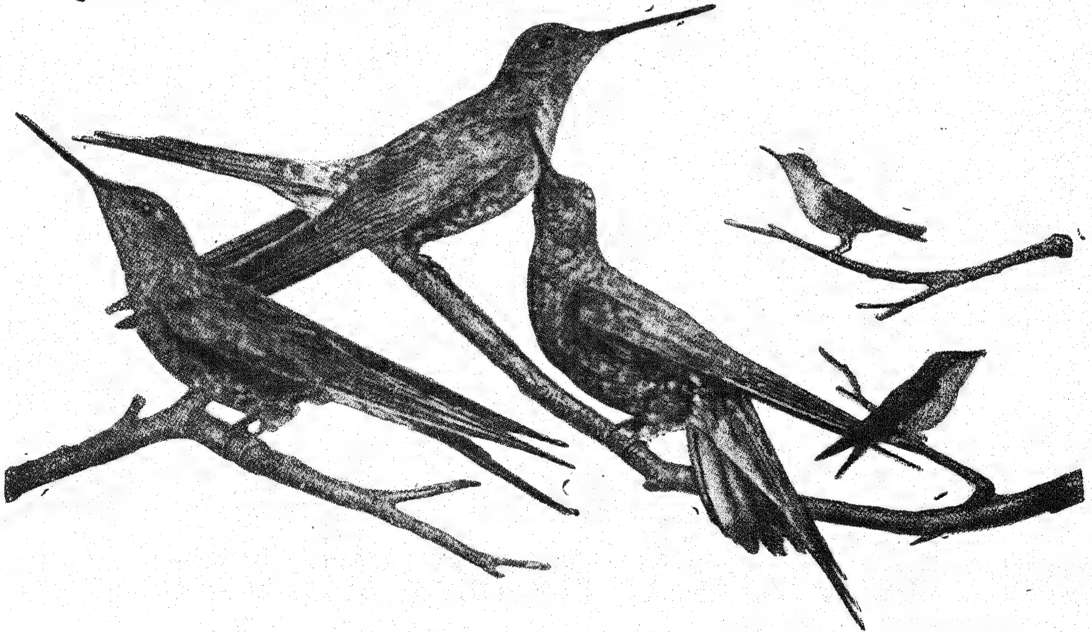
संसार के कतिपय सबसे सुंदर और सबसे भौंड़े पखेरू

प्रस्तुत लेख विगत दो अंकों से प्रकाशित हो रही पक्षियों संबंधी इस लेखमाला का धारावाही अंश है। अगले अंक में हम विशिष्ट रूप से अपने देश के प्रमुख पक्षियों का परिचय आपको देंगे।

'उड़ते हुए पुष्प या सजीव रत्न'

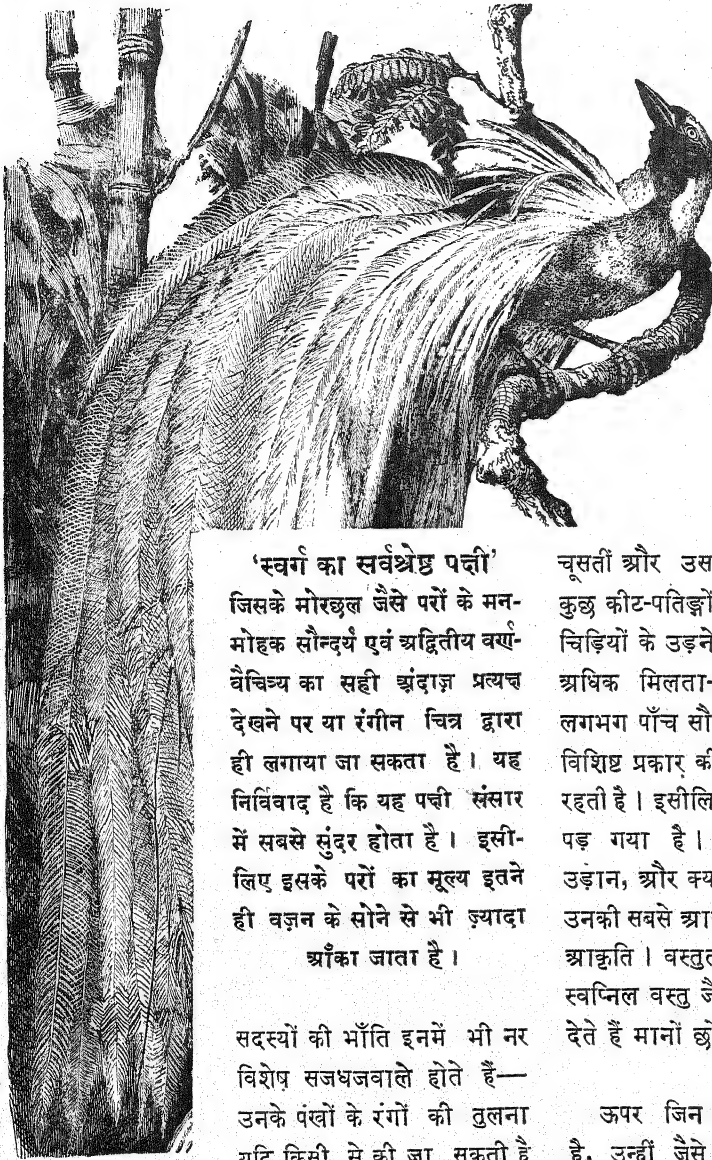
पक्षियों के उस वर्ग में जो अपने चटकीले जगमगाते हुए रंगों के लिए प्रसिद्ध है, सबसे उल्लेखनीय हैं दक्षिणी से उत्तरी अमेरिका तक फैले हुए नई दुनिया के वे अत्यन्त छोटे पखेरू, जिन्हें अंग्रेज़ी में 'हमिङ्ग बर्ड्स्' (Humming Birds) या 'भनभनानेवाले पक्षी' के नाम से पुकारते हैं। ये पक्षी-जगत् के सबसे छोटे प्राणी हैं।

इन जगमगाते हुए सजीव रत्नों-जैसे मनोरम पखेरुओं की पाँच सौ से भी अधिक विभिन्न जातियाँ हैं, जिनमें से कुछ, जो सबसे अधिक भड़कीली होती हैं, आकार में केवल सवा दो इंच ही होती हैं! इनके अंडों का आकार एक-चौथाई इंच से लेकर इंच के पाँचवें भाग तक होता है और घोंसलों की भीतरी समाई का व्यास मुश्किल से तीन-चौथाई इंच के लगभग! पक्षी-जगत् के अन्य सभी



संसार के सबसे सुंदर लघु प्राणी—मध्य और दक्षिणी अमेरिका के 'भनभनानेवाले पक्षी'

इनमें से कुछ तो पतिंगों और तितलियों से भी लघु आकार के होते हैं और उड़ते समय ऐसी तेजी से अपने पर फड़फड़ाते हैं कि मुश्किल से वे देखे जा सकते हैं। अपने चटकीले रंगों के कारण ही ये 'उड़ते हुए पुष्प' या 'पक्षी जगत् के नगीने' कहे जाते हैं।



'स्वर्ग का सर्वश्रेष्ठ पक्षी'
जिसके मोरछल जैसे परों के मनमोहक सौन्दर्य एवं अद्वितीय वर्ण-वैचित्र्य का सही अंदाज़ प्रत्यक्ष देखने पर या रंगीन चित्र द्वारा ही लगाया जा सकता है। यह निर्विवाद है कि यह पक्षी संसार में सबसे सुंदर होता है। इसीलिए इसके परों का मूल्य इतने ही वज़न के सोने से भी ज़्यादा आँका जाता है।

सदस्यों की भाँति इनमें भी नर विशेष सजधजवाले होते हैं—उनके पंखों के रंगों की तुलना यदि किसी से की जा सकती है तो केवल नीलम, पन्ना, माणिक, पुखराज आदि रत्नों से ही। वस्तुतः उनके सम्बन्ध में कुछ भी लिखते समय अत्युक्ति से बच पाना असम्भव-सा है—इतने अधिक सुन्दर और चटकीले होते हैं वे! आडोबान नामक लेखक ने इस पक्षी का परिचय 'इन्द्रधनुष का एक चमचमाता हुआ अंश' कहकर दिया है और बफन नामक एक दूसरे लेखक ने उसकी प्रशंसा में लिखा है कि 'उसके परों के परिधान में मानों पन्ना, माणिक और पुखराज नामक रत्नों की द्युति जगमगाती है।' सचमुच ही इन चिड़ियों को 'उड़ते हुए पुष्प या सजीव रत्नों' की जो उपाधि दी गई है, वह सर्वथा उचित ही है। कारण, उनके रंग की मनोरमता के साथ-साथ उनके यहाँ से वहाँ उड़ते समय की गति भी कम आकर्षक नहीं होती। ये चिड़ियाँ हमारे देश के 'लाल' या 'शकरख़ोर' नामक पक्षियों की भाँति, जिन्हें हम इनके सबसे नज़दीकी रिश्तेदार कह सकते हैं, विशेष रूप से फूलों की ग्राहक होती हैं और उन पर भौंरों की तरह मँडराया करती हैं। लाल या शकरख़ोर की तरह ये भी अपनी नलिकाकार चोंचों और लम्बी जीभों द्वारा फूलों का मधु चूसतीं और उस पर ही जीवन-निर्वाह करती हैं, यद्यपि कुछ कीट-पतिङ्गों पर भी बसर करती हैं। वास्तव में इन चिड़ियों के उड़ने का ढंग पक्षियों की अपेक्षा पतिंगों से अधिक मिलता-जुलता है। उनके पंख एक मिनिट में लगभग पाँच सौ बार फड़फड़ा उठते हैं, जिससे एक विशिष्ट प्रकार की मधुर गुंजार या भनभन ध्वनि निकलती रहती है। इसीलिए इनका नाम 'भनभनानेवाली चिड़ियाँ' पड़ गया है। इन विचित्र पक्षियों का क्या रंग, क्या उड़ान, और क्या गुंजान सभी कुछ मनमुग्धकर है, और उनकी सबसे आकर्षक विशेषता तो है उनकी अत्यन्त लघु आकृति। वस्तुतः वे चिड़ियाँ नहीं, बल्कि परी-देश की स्वप्निल वस्तु जैसी हैं, और उनके अण्डे तो ऐसे दिखाई देते हैं मानों छोटे-छोटे सफ़ेद मटर के दाने हों!

'स्वर्ग के पक्षी'

ऊपर जिन सुन्दर पखेरुओं का परिचय हमने दिया है, उन्हीं जैसे तड़कभड़कदार किन्तु आकार में उनसे कहीं बड़े और अधिक आकर्षक एक और जाति के पक्षी हैं, जो इतने अधिक सुन्दर होते हैं कि जिन लोगों ने पहलेपहल उन्हें देखा उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि ये इस मृत्युलोक के ही जीव हो सकते हैं! इसीलिए उनका नाम 'स्वर्ग के पक्षी' (Birds of Paradise) पड़ गया। ये चिड़ियाँ ईस्ट इंडीज़ द्वीप-समूह, न्यूगिनी के टापू और उत्तरी ऑस्ट्रेलिया के वनों में पाई जाती हैं। इनमें सबसे सुन्दर जाति का पक्षी 'स्वर्ग का सर्वश्रेष्ठ पक्षी' (The Superb Bird of Paradise) कहकर पुकारा जाता है, जिसके रंग-बिरंगे परों का मूल्य उतने ही वज़न के सोने से



जंगल के मसखरे 'हार्नबिल' के गृह-जीवन की विचित्र कहानी

जब मादा हार्नबिल अंडा देने को होती है तो नर किसी वृक्ष के तने को अपनी मजबूत चोंच से कुरेदकर (नं० १) उसके खोखले में मादा को बिठा मिट्टी से द्वार बंद कर देता है (नं० २)। सिर्फ़ एक दरार वह छोड़ देता है, जिसके रास्ते मातृत्व की पूरी अवधि तक वह मादा को भोजन पहुँचाता रहता है (नं० ३)। बच्चा पैदा हो जाने पर (नं० ४) पुनः मादा घोंसले से मुक्त हो जाती है (नं० ५)।

बीस या तीस गुना तक होता है। इस पक्षी के झिलमिलाते हुए मोरछल या चँवरनुमा पंख एक ज़माने में पश्चिम में महिलाओं की मूल्यवान् टोपियों की सजावट के काम में लाये जाते रहे, अतएव उन दिनों उनकी बहुत माँग रहती थी। बाद में लोकमत उक्त प्रथा के विरुद्ध हो जाने पर उनका इस काम के लिए व्यवहार बंद हो गया और संभवतः इसी से ये प्राणी असमय ही शीघ्रतापूर्वक पृथ्वी से विलुप्त होने से बच गए। इस चिड़िया के सिर और गर्दन पर मुलायम पंखों की एक चौड़ी झालर-सी होती है और गले में चटकीले पन्ने की नाईं हरित वर्ण का अयाल-सा होता है। उनकी दुम के शेष पंख मिश्रित रक्तिम लाल, कत्थई और गहरे हरे रंग के होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें भी मादा से नर ही अधिक तड़कभड़क और शान-शौक़तवाला होता है, और जब वह प्रेमलीन होकर अपनी शृंगार-विहीना भूरे रंग की प्रियतमा के आगे थिरकते हुए अपनी भव्य पंखमाला का प्रदर्शन करता है, उस समय का उसका सौंदर्य्य वर्णनातीत हो जाता है। यह पक्षी प्रायः वृक्षों की डालियों पर अपना प्रणयाभिनय-नृत्य करता है। उस समय जब वह अपने पंख थरथराता है तो उसके बदन के आसपास के पर ऐसे झिलमिला उठते हैं मानों सोने के तार चमचमा रहे हों!

पक्षी-जगत् के कुछ सबसे भौंड़े सदस्य

प्रकृति के चिड़ियाख़ाने में जहाँ ऊपर उल्लिखित पक्षियों जैसे अत्यंत सुन्दर और मनोहर प्राणी देखने को मिलते हैं, वहाँ साथ-ही-साथ उसके संग्रहालय में ऐसे पखेरुओं की भी कमी नहीं है जो कुरूपता और भौंड़ेपन में भी सबको मात कर सकते हैं। सुन्दर पक्षियों की तरह इन भौंड़ी चिड़ियों की भी अनेक जातियाँ हैं। किन्तु यहाँ हम केवल दो नमूनों का ही उल्लेख करना पर्याप्त समझते हैं। ये हैं—हार्नबिल (Hornbill) या धनेश और एडजूटण्ट स्टार्क (Adjutant Stork) या लगलग, जो अजीब वस्तुओं की किसी भी प्रदर्शनी में निश्चित रूप से ऊँचा इनाम पा सकते हैं।

हार्नबिल

यह एक बहुत बड़ा पक्षी है, जो लंबाई में ४॥ फ़ीट के लगभग होता है। किन्तु इसकी इस लंबाई में असली बदन का हिस्सा बहुत ही कम अर्थात् केवल १४ इंच होता है—वस्तुतः वह उसकी बहुत लंबी बृहदाकार चोंच तथा ढीली-ढाली भारी दुम को एक-दूसरे से संलग्न करने में मानों एक कड़ी का काम देता है। उसकी यह चोंच लगभग एक फ़ीट लंबी होती है और ऊपर की ओर उभरे हुए अपने एक शृंगवत् भाग की वजह से विशेष रूप से दर्शक का ध्यान खींचती है। इस उभरे हुए भाग के कारण यह पक्षी ऐसा दिखाई देता है मानों वह टोप पहने हुए हो, जिसे मज़ाक के लिए उसने अपने सिर पर रखने के बजाय अपनी भारी चोंच पर ही रख लिया हो! उसकी लाल-लाल आँखें, जिनमें ऊपरी पलक की कोर पर बरौनियाँ भी होती हैं, उसकी अजीब शक्ल को और भी अधिक विचित्र बनाने में विशेष योग देती हैं। इस पक्षी की तस्वीर पर ज़रा ग़ौर कीजिए—क्या यह आपको जंगल का मसख़रा जैसा नहीं प्रतीत होता? पर यही नहीं, केवल शक्ल-सूरत ही नहीं, बल्कि इसकी करतूतों में भी निरालापन है। उदाहरण के लिए जब वह खाता है तो निगलने के पहले प्रत्येक कौर को पहले हवा में ऊँचे उछालता और तब उसे चोंच में झेलकर गटक जाता है। अपने इस अभ्यास के कारण कितनी भी दूर से कोई चीज़ उसके पास क्यों न फेंकी जाय वह उसे पकड़ने में कभी भी नहीं चूकता। वस्तुतः यह पक्षी क्रिकेट के खेल में गेंद झेलनेवाले का काम बड़ी सफलतापूर्वक कर सकता है! किन्तु इसकी सबसे अधिक उल्लेखनीय विचित्रता तो है उसके घोंसले की अद्भुत निर्माणक्रिया, जिसका ज़िक्र 'विश्व-भारती' के पिछले एक अंक में किया जा चुका है (दे० अंक १४, पृष्ठ १६८६)। हम यह बता चुके हैं कि इसकी चोंच असाधारणतया बड़ी होती है। पर वह केवल बड़े आकार की ही नहीं होती बल्कि उतनी ही ताक़तवर भी होती है। उसके द्वारा वह एक ही चोंट में कड़ी से कड़ी लकड़ी में आधा इंच तक गहरा छेद कर सकता है! इस पक्षी की मादा चिड़िया जब अंडा देने को होती है तो किसी वृक्ष के तने या डाल में एक सुरक्षित खोखला स्थान तलाश किया जाता है और चोंच से कुरेदकर ये पक्षी उसे इतना बड़ा कर लेते हैं कि मादा उसमें आराम से बैठ सके। जब वह इस घोंसले में अंडे देने के लिए प्रवेश करती है तो नर अपनी चोंच में भर-भरकर मिट्टी लाता है और उसे लसलसी बना क्रमशः राज की तरह चुनचुनकर उससे खोखले का द्वार मज़बूती से बंद कर देता है—केवल मादा पक्षी की चोंच बाहर निकलने-भर की एक दरार वह उसमें छोड़ देता है। इसी में से चोंच निकालकर बंदिनी मादा अपने मातृत्व-काल की पूरी अवधि-भर नर से भोजन पाती

रहती है। जब अंडे से बच्चा पैदा हो जाता है और बाहर उड़ने लायक हो जाता है तो खोखले के द्वार का मिट्टी का प्लास्टर कुरेदकर हटा दिया जाता है और मादा बच्चे सहित पुनः बाहर निकल आती है।

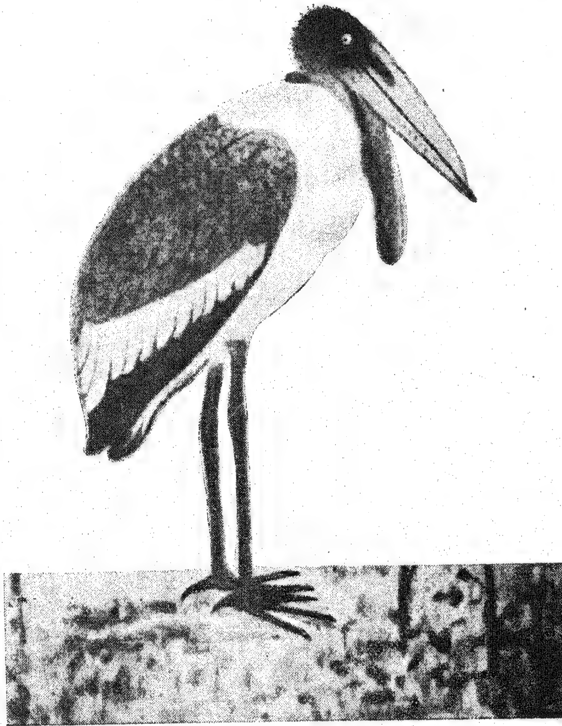
यह एक उल्लेखनीय बात है कि इस चिड़िया की चोंच पर जो उभरी हुई टोपी-सी पाई जाती है, वह शैशवावस्था में नहीं रहती, बल्कि वयस्क होने पर ही पैदा होती है। यह क्यों? संभवतः इसका एकमात्र प्रयोजन यही दिखाई देता है कि घोंसला बनाते वक्त चोंच द्वारा वृक्षों के तने की लकड़ी कुरेदते समय उसके मस्तिष्क को ठेस या हानि से बचाने के लिए यह एक प्रकार के लाग का काम देती है, अर्थात् चोंच से चोट करने पर जो धक्का लगता है उसे यह जज़्ब कर लेती है और इस प्रकार मस्तिष्क सुरक्षित रहता है।

टूकन

अजीब चोंचवाले पक्षियों में एक और उल्लेखनीय पखेरू अमेरिका के उष्ण प्रदेशों का निवासी टूकन (Toucan) है, जिसकी नारंगी रंग की बृहत् चोंच आजू-बाजू से चपटी होती है और आकार में लॉब्स्टर (Lobster) के आँकड़े जैसी मुड़ी होती है। यह चोंच बेहद बड़ी होने पर भी इतनी भारी नहीं होती कि जिससे पक्षी की उड़ान में बाधा पड़े। बल्कि उससे उसे कई तरह की सहायता ही मिलती है। उदाहरण के लिए यह भारी भरकम पक्षी किसी एक डाली पर बैठे-बैठे ही चारों ओर की छोटी-छोटी टहनियों के फलों को अपनी इस चोंच की नोक से बड़े मज़े में बटोर लेता है—उसे यहाँ से वहाँ फुदकना नहीं पड़ता।

एडजूटएट स्टार्क या लगलग

हार्नबिल या टूकन से भी अधिक भौंड़ी शक्ल का एक पक्षी हमारे देश में ही होता है, जिसे अंग्रेज़ी में एडजूटएट स्टार्क (Adjutant Stork) का नाम दिया गया है और जो हमारे यहाँ की बोली में लगलग कहलाता है। इस पक्षी की डरावनी लंबी चोंच बहुत ही गंदे पिलौंहे रंग की होती है और इसी तरह उसकी लंबी टाँगें भी मटमैले भूरे रंग की होती हैं। इस पक्षी की प्रायः यह आदत होती है कि खड़ा रहते समय वह मसखरे की तरह अपने सिर को अपने कंधों में दबा-सा लेता है, जिससे पीठ की ओर से देखने पर ऐसा दिखाई देता है मानों बिलायती ढंग का कोट पहने हुए कोई कुबड़ा बूढ़ा सिकुड़कर खड़ा हो! इससे भी अधिक हास्यास्पद तो वह तब प्रतीत होता है जबकि खड़े-खड़े ऊब जाने पर वह घुटने मोड़ देता है। उस समय उसकी टाँगों के निचले भाग आगे की ओर निकलकर ऐसे दिखाई देने लगते हैं मानों गलती से वे उलटे लगा दिए गए हों! बग़ल का चित्र देखिए। निस्संदेह डगलस डेवार नामक विद्वान् के शब्दों में 'यदि हार्नबिल या धनेश जंगल का मसख़रा है तो एडजूटएट या लगलग खुले मैदानों का विदूषक है।' उसके चलने का ढंग देखकर तो कोई भी हँसे बिना नहीं रह सकता।



पक्षी जगत् का सबसे भौंड़ा प्राणी—एडजूटएट स्टार्क
(परिचय इसी पृष्ठ के मैटर में देखिए)

अद्भुत होत्ज़िन पक्षी

आज दिन संसार में जितने भी पखेरू मिलते हैं उनमें दक्षिणी अमेरिका का होत्ज़िन (Hoatzin) पक्षी अपने ढंग का एक ही प्राणी है। यह पक्षी अपना घोंसला प्रायः कमल से आच्छादित दलदल के किनारे अथवा नदी-तट

के वृक्षों पर पानी से छः से पंद्रह फ़ीट की ऊँचाई पर बनाता है। इसका घोंसला सूखी टहनियों को बटोरकर बनाया गया एक निरा चबूतरा-सा होता है, जिसे ये पक्षी ब्रिटिश गायना के पिम्प्लर नामक कँटीले वृक्षों की दो डालियों के जोड़ पर रचते हैं। इन वृक्षों की कोमल हरी पत्तियाँ ही इन पक्षियों का प्रमुख आहार है। ये पखेरू बहुत अधिक निडर और पालतू-जैसे होते हैं और जब तक कि उनके घोंसलेवाली डाली एकबारगी ही हिला-डुला नहीं दी जाती, तब तक छेड़-छाड़ करने पर भी वे अपना घोंसला नहीं छोड़ते।

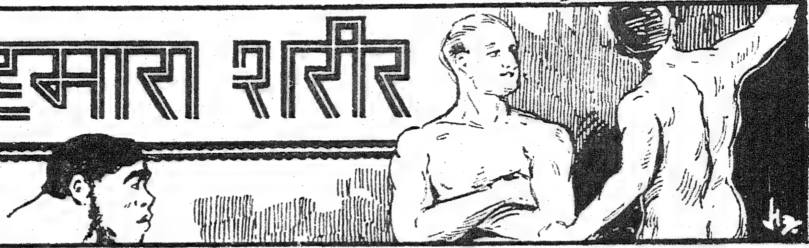
होत्ज़िन आकार में फ़ाख़्ते से कुछ छोटा होता है और उसके सिर पर एक हिलती हुई कलँगी होती है। इस पक्षी की उड़ने की सामर्थ्य परिमित होती है और उसके बदन की निचली बाज़ू यानी पेट की ओर की चमड़ी का एक अंश कड़ा होता है, जिसके सहारे टिककर वह प्रायः विश्राम करता है। इस अद्भुत चिड़िया का बच्चा अपने डैनों के दो-दो पंजों की सहायता से छिपकिली की भाँति चारों पैरों पर रेंगते हुए वृक्ष आदि पर चढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त वह उतनी ही कुशलतापूर्वक ऊपर से सिर के बल पानी में कूदकर डुबकी भी मार सकता है और सील नामक जलजंतु की तरह बड़े मज़े में तैर भी सकता है। कुछ ही मिनिटों में इस छोटी-सी चिड़िया को अपने जीवन में पहली बार एक साथ ही वृक्ष पर चढ़ते, वहाँ से पानी में कूदकर डुबकी लगाते और मज़े के साथ तैरते हुए देखकर बीब नामक एक प्रकृति-वैज्ञानिक आश्चर्य में पड़ गया था—निस्संदेह यह किसी भी दर्शक के लिए एक चकरा देनेवाली बात थी!



स्टार्क पक्षियों की अनेक उपजातियाँ होती हैं, किन्तु सभी बदसूरती के लिए नामांकित हैं। यह 'ओपनबिल स्टार्क' का चित्र है। यद्यपि यह भौंड़ेपन में 'एडजूटण्ट स्टार्क' का मुक़ाबला नहीं कर सकता, फिर भी इसे देखकर भला किसको आकर्षण हो सकता है?

इस पक्षी की बोली बड़ी ही विचित्र होती है—वह मेंढक की आवाज़ जैसी फटी और भर्राई हुई होती है, विशेषकर मादा पक्षी की आवाज़ नर से भी अधिक गंभीर और गुड़गुड़ाने-जैसी होती है। उरंगमों जैसे अपने विविध लक्षणों के कारण यह अजीब पखेरू आज दिन प्रकृति-वैज्ञानिकों के लिए जंगलों या दलदलों की अन्य किसी भी चिड़िया से कहीं अधिक दिलचस्प और विस्मयोत्पादक है—उसे हम प्रकृति की एक जीती-जागती पहेली कह सकते हैं।

वस्तुतः यह अनोखा प्राणी उरंगमों और पक्षियों के बीच की शृंखला की एक कड़ी जैसा है। अपने कई गुणों में तो वह पक्षियों से कहीं अधिक उरंगमों का निकट संबंधी प्रतीत होता है। मालूम होता है कि जहाँ तक इस पक्षी का संबंध है, विकास-चक्र की गति अन्य प्राणियों की बनिस्बत मंदतर रही, तभी तो क्या बोली, क्या हरकत और क्या आदतों में वह हमें पक्षी-जीवन के आरंभिक दिनों के विगत युग की याद दिलाता है!



रक्त-संचालन-प्रणाली—(२)

हमारे शरीर-यंत्र का अद्‌भुत पंप—हृदय—और उससे संलग्न धमनियों और शिराओं का विचित्र जाल

यदि आप मानव-शरीर-रूपी महान् आश्चर्यजनक यंत्र पर ध्यान दें तो उसके आगे समस्त वैज्ञानिक कौतुक आपको फ़ीके मालूम होंगे। क्या यह कम अचरज की बात है कि ३॥ छटाँक वज़न का हमारा हृदयरूपी मांसपिंड चौबीस घंटों में २००० गैलन से भी अधिक रक्त पंप करने का सामर्थ्य रखता है और जन्म से मृत्युपर्यन्त कभी भी वह अपने इस कार्य से विमुख नहीं होता? क्या आप विश्वास करेंगे कि यदि हमारे शरीर की तमाम रक्त-नलिकाएँ एक से एक मिलाकर लंबी फैलाई जाएँ तो वे साढ़े तीन लाख मील लंबी फैलेंगी? किन्तु सत्य यही है। आइए, इस संबंध में आपको अधिक बतलाएँ।

इस स्तंभ के पिछले लेख में हम आपको जीवन की महत्त्वपूर्ण रक्तिम स्रोतस्विनी अर्थात् रुधिर-स्रोत, रुधिर में पाए जानेवाले द्रव्य और उनके कार्य की रोचक गाथा सुना चुके हैं। आइए, अब आपको अपने शरीर के उस आश्चर्यजनक अंग का परिचय दें, जो प्राणवाही रुधिर को शरीर के कोने-कोने में पहुँचाता है, साथ ही उन असंख्य नलिकाओं और प्रणालियों की भी जानकारी कराएँ, जिनमें होकर यह मूल्यवान् रस अपनी यात्रा के दौरे में बहता है। हम अपने शरीर-यंत्र के इस अद्‌भुत अंग को 'हृदय' या 'दिल' और उससे संलग्न नलियों और नलिकाओं को धमनियाँ तथा 'शिराएँ' कहते हैं।

हृदय या दिल हमारे शरीर के अत्यंत महत्त्वपूर्ण और आधारभूत अंगों में से एक है। यदि किसी भी कारण से वह अपना कार्य बंद कर दे तो फ़ौरन् ही हमारी मृत्यु हो जाय। सारे जीवन भर वह दिन और रात, हफ़्ते-दर हफ़्ते, वर्ष-प्रति-वर्ष निरंतर गति से धड़कता अर्थात् लगातार सिकुड़ता और फैलता रहता है। सिवा किसी दुर्घटना या रोग के कभी भी वह अपने काम को बजाने में चूकता नहीं। यदि हम उसके छोटे आकार पर ध्यान दें तो निस्संदेह यह कहना पड़ेगा कि जितने भी प्रकार के पंप हमें ज्ञात हैं, उन सबमें सबसे अधिक मुस्तैदी से काम करनेवाला पंप यही है। वस्तुतः अनेक जाति के पंपों का आविष्कार करने पर भी मनुष्य अब तक इस जैसा पंप नहीं बना सका है। इस निराले यंत्र की सहायता से रुधिर निरंतर गतिशील रहते हुए सारे शरीर में दौड़ता रहता है। शरीर के विविध अंगों में रक्त के इस निरंतर बहाव को ही वैज्ञानिक 'रक्त का संचालन' (Circulation of the Blood) कहते हैं। इस क्रिया को सफल बनाने में जो अंग योग देते हैं वे हैं—एक ओर हृदय (Heart) और दूसरी ओर धमनियाँ (Arteries), शिराएँ (Veins) और केशिकाएँ (Capillaries) नामक तीन प्रकार की रक्तवाहिनी प्रणालियाँ, जो शरीर में कहीं छोटी और कहीं बड़ी नलिकाओं का रूप लिये हुए फैली हैं।

हृदय और उसके चार कोष्ठ

हृदय नाशपाती की शक्ल का एक खोखला मांस-निर्मित अंग है, जो हमारी छाती की हड्डियों के ढाँचे में तिरछे ढंग से अवस्थित है। वह उरोस्थि की दाहिनी बाज़ू की अपेक्षा बाईं ओर को अधिक हटा हुआ होता है और उसका शिखर नीचे की ओर दाहिने और बाएँ फुफ्फुसों के बीच लटका रहता है। तौल में वह नौ से दस औंस (अर्थात् लगभग ३॥ छटाँक) तक होता है और आकार में क़रीब-क़रीब मनुष्य की मुट्ठी के बराबर। यह अद्‌भुत मांसपिण्ड 'हृदयकोष' या 'हृदावरण' (Pericardium) नामक एक सौत्रिक तंतुनिर्मित्त थैली में बंद रहता है, जिसमें उसे फैलने को जगह मिलती है, किन्तु साथ ही बहुत अधिक फैलने से जो उसे रोकती भी है।

इस आवरण की दीवार और हृदय के पृष्ठ की आपस में रगड़ नहीं हो पाती, क्योंकि थैली का भीतरी और हृदय का बाहरी पृष्ठ एक अत्यंत चिकनी झिल्ली से मढ़ा रहता है, जो एक प्रकार के स्वच्छ तरल द्रव द्वारा निरंतर गीली और चिकनी बनी रहती है। इससे धड़कन के समय उपर्युक्त दोनों पृष्ठ आपस में रगड़ने के बजाय एक दूसरे को छूते हुए चिकनाई में रपटते-से रहते हैं। इसी झिल्ली के नीचे होकर हृदय से बाहर की ओर वे धमनियाँ जाती हैं, जो उसके लिए ऑक्सिजन और अन्य खाद्य द्रव्य लाती हैं, क्योंकि शरीर की अन्य सभी पेशियों की भाँति हृदय को भी निरंतर खाद्य और ऑक्सिजन की आवश्यकता पड़ती रहती है। कुछ लोग सोचते हैं कि हृदय एक ठोस मांस-पिण्ड हैं, किन्तु वास्तव में यह एक मांस-निर्मित्त थैली है जिसका भीतरी खोखला हिस्सा एक खड़े विभाजक परदे द्वारा एक-दूसरे से बिल्कुल अलग दाहिने-बाएँ दो कोष्ठों में विभाजित है। इन कोष्ठों का परस्पर कोई संबंध नहीं होता। इनमें से प्रत्येक कोष्ठ में पुनः ऊपर-नीचे दो-दो प्रकोष्ठ होते हैं जिनमें से एक की दीवार पतली होती है और दूसरे की मोटी। ये प्रकोष्ठ एक-दूसरे से पूर्णतया विलग नहीं होते, प्रत्युत् उनके बीच निर्यात के लिए एक तरह के कपाट लगे रहते हैं। इस प्रकार हृदय को हम एक दूसरे से सटे हुए किन्तु बिल्कुल स्वतन्त्र और सम्बन्ध-रहित दो विभागों वाला एक गृह कह सकते हैं, जिसके प्रत्येक हिस्से में एक ऊपरी और एक निचली कोठरी होती है। इनमें ऊपरी कोठरी को 'ग्राहक कोष्ठ' (Auricle) और निचली को 'क्षेपक कोष्ठ' (Ventricle) के नाम से पुकारते हैं। इन चारों कोठरियों में से प्रत्येक बाज़ू की ऊपरी कोठरी उसी बाज़ू की निचली कोठरी से एक द्वार द्वारा संबद्ध है, किन्तु एक बाज़ू का दूसरी बाज़ू से कोई आवागमन का सीधा संबंध नहीं है। 'ग्राहक कोष्ठ' हृदय की वे कोठरियाँ हैं जिनमें बाहर से रक्त आता है और 'क्षेपक कोष्ठ' वे हैं जिनमें से रक्त पुनः बाहर जाता है।

हृदय के उपांगों में क्षेपक कोष्ठ सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें भी बाईं ओर का क्षेपक कोष्ठ दाहिनी ओर से कहीं अधिक सुदृढ़ और अधिक मांसल होता है—वह दाहिने क्षेपक कोष्ठ से लगभग दुगुना या तिगुना मोटा होता है और उसी को हृदय के श्रम का अधिकतर भार उठाना पड़ता है। उसे बृहत् धमनी या महाधमनी (Aorta) नामक उस बड़ी रक्त-प्रणाली में, जो उसमें से निकलती है, रक्त को धकेलता पड़ता है। यही नहीं, इस महाधमनी के रास्ते उसकी तमाम छोटी-बड़ी शाखा-प्रशाखाओं में से होकर ऊपर मस्तिष्क से लेकर नीचे पैरों की उँगलियों तक सारे शरीर में तथा गुरदे, यकृत आदि सभी भीतरी अंगों में होते हुए पुनः एक अन्य प्रकार की प्रणालियों के जंजाल के मार्ग से रक्त को धकेलकर वापस हृदय तक पहुँचाने का श्रम भी इसी कोष्ठ को उठाना पड़ता है! ज़रा अनुमान कीजिए कि इतनी लंबी और कठिन यात्रा को सम्पूर्ण करने के लिए रक्त को धकेलने में कितनी अधिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती होगी! यही कारण है कि बाएँ क्षेपक कोष्ठ की दीवार इतनी अधिक सुदृढ़ मांसपेशियों द्वारा निर्मित होती है। दूसरे अर्थात् दाहिने क्षेपक कोष्ठ से 'फुफ्फुसीया धमनी' (Pulmonary Artery) नामक एक रक्त-प्रणाली निकलती है, जो समीप ही अवस्थित फेफड़ों को रुधिर पहुँचाती है। अतः इस क्षेपक कोष्ठ को बहुत कम लम्बे रास्ते तक ही रक्त को धकेलना पड़ता है—केवल हृदय से फुफ्फुसों तक और वहाँ से पुनः वापस हृदय तक।

ग्राहक कोष्ठ, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बहुत पतली दीवारवाले प्रकोष्ठ होते हैं और उनका काम होता है रक्त को बटोरना। फेफड़ों को छोड़कर शरीर के अन्य तमाम अङ्गों से दो प्रमुख नलिकाओं या शिराओं द्वारा, जिनमें से एक आगे से और दूसरी पीछे से इस प्रकोष्ठ में आकर मिलती हैं, रक्त खिंचकर दाहिने कोष्ठ में आता है। इसी प्रकार फेफड़ों का रक्त 'फुफ्फुसीया शिरा' (Pulmonary Veins) नामक चार नलिकाओं द्वारा बाएँ ग्राहक कोष्ठ में वापस आता है।

हृदय के कपाट या वाल्व

प्रत्येक बाज़ू के ऊपरी कोठे की फ़र्श बिल्कुल एकाकार नहीं होती, बल्कि वह छोटे-छोटे परदेनुमा किवाड़ों से युक्त होती है, जो इस प्रकार व्यवस्थित रहते हैं कि रक्त उनमें से होकर केवल एक ही दिशा में अर्थात् ग्राहक कोष्ठ में से क्षेपक कोष्ठ में प्रवाहित हो सकता है, उल्टे वापस नहीं आ पाता। ये परदेनुमा किवाड़ 'वाल्व' (Valves) या कपाट के नाम से पुकारे जाते हैं और छोटी-छोटी पेशियों से संबद्ध महीन संयोजक तन्तुओं की सहायता से चोर-दरवाज़ों की तरह खुलते और बंद होते हैं। हृदय के इन कपाटों के ठीक-ठीक काम करने तथा स्वस्थ बने रहने पर न केवल हमारे शरीर का स्वास्थ्य बल्कि हमारा जीवन ही निर्भर है। इन कपाटों की अद्भुत व्यवस्था के द्वारा ही हृदय के प्रकोष्ठों में से रक्त का बाहर

और भीतर की ओर प्रवाह नियन्त्रित होता रहता है।

दाहिने ग्राहक और क्षेपक कोष्ठों के बीच के द्वार के कपाट में तीन पर्देनुमा किवाड़ होते हैं जब कि बाईं ओर के ग्राहक और क्षेपक कोष्ठों के मध्यवर्ती कपाट में केवल दो। बाएँ क्षेपक कोष्ठ से रुधिर-निर्यात की प्रधान नलिका—महाधमनी (Aorta)—में खुलनेवाले और इसी प्रकार दाहिने क्षेपक कोष्ठ से फुफ्फुसीया धमनी में खुलनेवाले द्वारों के मुख भी ऐसे कपाटों द्वारा सुरक्षित रहते हैं, जो रक्त को हृदय से उन धमनियों में तो बख़ूबी बहने देते हैं किन्तु उलटकर धमनियों से वापस हृदय में कदापि नहीं आने देते। इनमें से प्रत्येक कपाट में दूज के चाँद की शक्ल के तीन छोटे-छोटे जेबनुमा किवाड़ बने होते हैं, जिनके जेबों का मुँह नलियों की ओर रहता है। जब रक्त हृदय की ओर से धकेला जाकर धमनियों में प्रवाहित होता है तब ये कपाट धमनी की दीवार से सपाट चिपटे रहते है और रक्त के प्रवाह में उनसे कोई बाधा नहीं पड़ती—वह ज़ोरों से बहता हुआ आगे बढ़ जाता है। किन्तु यदि वही रक्त पुनः धमनी की ओर से हृदय में वापस बहने के लिए ज़ोर करे तो तुरन्त उसके वेग से कपाटों के चन्द्राकार जेबनुमा परदों की प्रत्येक जेब भरकर फूल जायगी और वे किवाड़ नली के बीच आपस में मिलकर इस प्रकार रास्ता बन्द कर देंगे कि एक बूँद रक्त भी हृदय की ओर न जा पायगा। इन कपाटों के बन्द होने की ध्वनि छाती की दीवार में से सुनी जा सकती है और उनकी आवाज़ पर ध्यान देकर कोई भी योग्य डॉक्टर यह बता सकता है कि हृदय तथा उसके कपाटों का स्वास्थ्य ठीक है या नहीं।



विलियम हारवे

जिसने पहले पहल अपनी खोज द्वारा पश्चिम की वैज्ञानिक दुनिया का रक्त के परिभ्रमण का रहस्य बताया।

हृदय की पेशियाँ और धड़कन

हृदय जिस प्रकार की मांस-पेशियों द्वारा बना है, वे अपने ढंग के सबसे निराली जाति के तंतुओं से बनी होती हैं—उनके तंतु न तो अंगों की धारीदार ऐच्छिक पेशियों के-से होते हैं न अँतड़ियों के भीतरी पृष्ठ पर पाई जानेवाली अनैच्छिक बिना धारीवाली पेशियों जैसे। यह पहले ही एक लेख में बताया जा चुका है कि ऐच्छिक पेशी त्वरित संकोच का सामर्थ्य रखती है और फलस्वरूप बहुत जल्दी ही थक भी जाती है। इसके विपरीत अनैच्छिक पेशी में धीरे-धीरे और लगातार संकुचित होते रहने का गुण होता है। परन्तु हृदय के मांस के तंतुओं में इन दोनों ही के गुण मिश्रित पाए जाते हैं—वे तेज़ी से सिकुड़ने और पुनः पसरने की भी सामर्थ्य रखते हैं, साथ ही सामान्य रूप से निरंतर अपना कार्य करते हुए वे कभी थकते भी नहीं। प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष में हृदय की यह सिकुड़ने और शिथिल होने की क्रिया एक मिनिट में ७० से ८० बार तक होती है और इसी को हम 'हृदय की धड़कन' के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार हृदय की क्रिया-प्रक्रिया उसकी मांसल दीवारों के क्रमशः संकुचित और शिथिल होने के रूप में हमें अवगत होती है। पहले ग्राहक कोष्ठों का अति सूक्ष्म संकोच या आकुंचन होता है, तदनंतर क्षेपक कोष्ठों का उससे कहीं अधिक दीर्घकालव्यापी संकोच होता है और उसके बाद, लगभग उतनी ही देर तक जितना समय कि उक्त दोनों प्रकार के संकोच होने में लगा था, विराम या एकदम शिथिलता की अवस्था

रहती है। इन क्रियाओं का ज्ञान हमें हृदय के स्पंदन के स्वर द्वारा होता है, जो कि किसी भी व्यक्ति के हृदय पर कान लगाकर हम सुन सकते हैं। यह स्वर 'लुब्-डप्' जैसा सुनाई देता है। 'लुब्' शब्द कुछ-कुछ क्षेपक कोष्ठों के आकुंचन के कारण और उसके बाद तत्काल सुनाई पड़ने वाला 'डप्' शब्द बृहत् धमनियों के सिरे के वाल्व या कपाट के एकाएक बंद होने के फलस्वरूप सुनाई देता है। ये स्वर स्टीथोस्कोप नामक स्वरपरीक्षक यंत्र द्वारा बहुत स्पष्ट सुने जा सकते हैं, जिसका व्यवहार प्रत्येक डॉक्टर को करते हुए आपने देखा होगा। इसके अतिरिक्त बाहर के स्पर्श द्वारा भी हृदय की धड़कन का अनुभव किया जा सकता है। किन्तु यह बाहरी धड़कन वस्तुतः प्रत्येक स्पंदन के समय हृदय के शिखर (Apex) के छाती की दीवार की ओर किंचित् धकेले जाने के फलस्वरूप ही हमें अवगत होती है।

हृदय का स्पंदन एक स्वनियंत्रित क्रिया है। उसकी मांसपेशियों में एक विशिष्ट प्रकार की नियमित लययुक्त गति करते रहने का स्वाभाविक गुण होता है। यदि किसी भी जीवित मनुष्य का हृदय उसके शरीर में से बाहर निकालकर उपयुक्त वातावरण में रक्खा जाय तो वह एक मिनिट में लगभग ४० धड़कनों की गति से अपने आकुंचन का क्रम जारी रक्खेगा और इस प्रकार उसका यह स्वाभाविक स्पंदन अनिर्दिष्ट काल तक जारी रक्खा जा सकेगा। सामान्य अवस्था में किसी भी स्वस्थ मनुष्य का हृदय प्रति मिनिट ७० से ८० बार तक धड़कता है, अर्थात् दिन-रात में उसकी लगभग एक लाख धड़कनें होती हैं और प्रत्येक धड़कन में ४॥ औंस रक्त वह पंप करता है, जिसका अर्थ यह हुआ कि चौबीस घंटों में कुल मिलाकर दो हज़ार गैलन जितना द्रव फुप्फुसों से खींचकर वह वापस उनमें पंप करता है! शक्ति की नाप के हिसाब से यह कार्य ३२ टन वज़न को ज़मीन से एक फ़ीट ऊँचा उठाने के बराबर होता है। यह तो सामान्य दशा की बात है— इसके अतिरिक्त विशेष दबाव और ज़ोर पड़ने पर हृदय इससे तीन गुना अधिक तक कार्य करने का सामर्थ्य रखता है। और तारीफ़ तो यह है कि यह सारा काम वह इतनी मुस्तैदी से और ऐसी तेज़ी से करता है कि हमें उसकी भनक भी नहीं पड़ती!

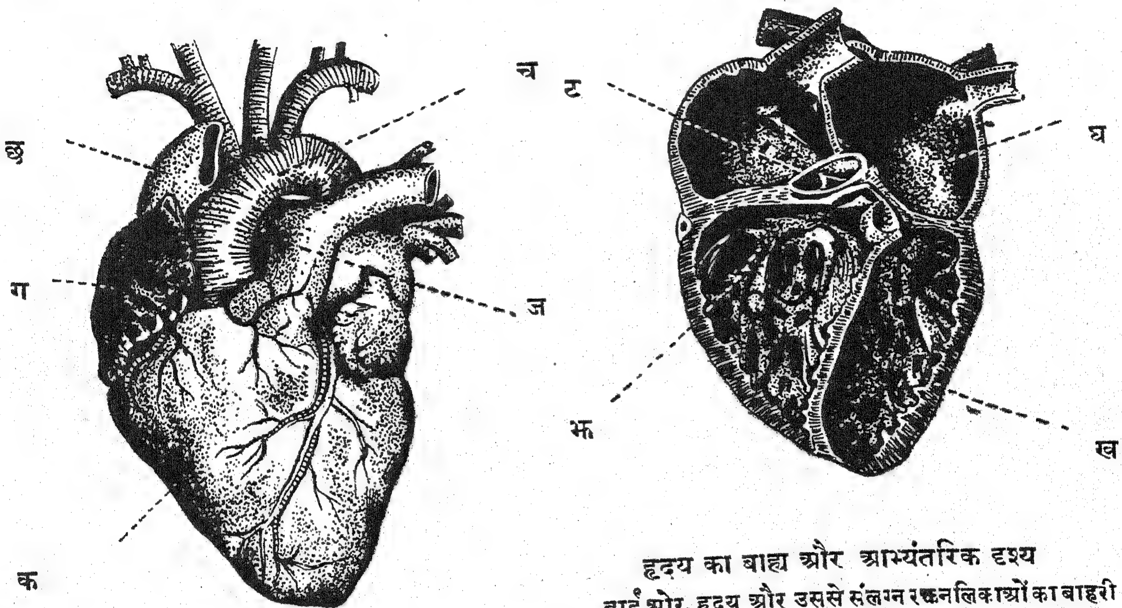
यहाँ इस बात को ध्यान में रखना ज़रूरी है कियद्यपि हृदय हमारे शरीर के सबसे अधिक परिश्रम करनेवाले अंगों में से एक है तथापि यह बात नहीं है कि वह आराम न करता हो। वस्तुतः अपने प्रति दो स्पन्दनों के बीच के क्षणिक विराम की अवधि में वह काफ़ी विश्राम कर लेता है! विराम के उस एक सैकंड के अति सूक्ष्म अंश जितने समय में ही हमारे इस अंग को अपनी थकान मिटाने तथा भावी कार्य के लिए शक्ति-संग्रह करने का काम पूरा करना होता है। उसके प्रत्येक आकुंचन और प्रसार में एक सैकण्ड के $\frac{4}{5}$ भाग जितना समय लगता है। इस समय के लगभग आधे भाग में वह विश्राम किया करता है। इस प्रकार चौबीस घण्टों में वह कुल मिलाकर १२ घण्टे काम करता और उतने ही काल तक आराम कर लेता है। कुछ निरीक्षकों का तो कथन है कि वह केवल ९ घण्टे ही काम में लगाता है और शेष १५ घण्टे पुनः रक्त के भरने की प्रतीक्षा में शिथिलता की दशा में ही बिताता है।

किसी भी सामान्य स्त्री का हृदय उसी वय के पुरुष के हृदय से अधिक तेज़ी से धड़कता है और बच्चों का उससे भी अधिक। परन्तु दरअसल अन्य बातों में समानता रखते हुए भी विभिन्न व्यक्तियों के हृदय की धड़कन की गति में काफ़ी अंतर पाया जाता है। जहाँ कुछ पूर्णतया स्वस्थ व्यक्तियों के हृदय प्रति मिनिट ८० से ९० बार तक धकड़ते पाए गए हैं, वहाँ नेपोलियन जैसे अन्य कुछ व्यक्तियों के स्पन्दन की गति केवल प्रति मिनिट ४० ही आँकी गई है, यद्यपि ऐसा प्रायः अपवाद के रूप में ही पाया जाता है। आयु के अतिरिक्त हमारे विभिन्न कार्यों का भी प्रभाव हमारे हृदय की धड़कन की गति पर पड़ता है। उदाहरण के लिए हमारी त्वचा की ऊपरी सतह पर गर्मी पहुँचाने से हृदय की धड़कन की गति बढ़ जाती और सर्दी पहुँचाने से वह कम हो जाती है। इसी प्रकार भोजन करते समय वह तीव्र हो जाती और सोने या लेटने की दशा में मन्द हो जाती है। जब कोई व्यक्ति लेटा हुआ रहता है तो उसका हृदय खड़े होने की अवस्था की अपेक्षा प्रति मिनिट दस बार कम धड़कता है।

हृदय अपने अनवरत आकुंचन और प्रसार द्वारा रक्त को एक के बाद एक अनेक क्रमबद्ध धक्कों द्वारा धमनियों में धकेलता है और धक्के की यह लहर एकबारगी धमनियों के सारे जंजाल में दौड़ जाती है। यह स्पन्दन की क्रिया वयस्क व्यक्तियों में सामान्यतया प्रति मिनिट ७२ बार होती है और जहाँ-कहीं कोई बड़ी धमनी शरीर में सतह की ओर काफ़ी ऊपर होती है, वहाँ उसकी

फड़क उँगली लगाने पर स्पष्टतः अनुभव की जा सकती है, बल्कि देखी भी जा सकती है। ऐसा अनुभव हाथ की कलाई और कनपटी में विशेष रूप से हम कर सकते हैं। कलाई पर पाई जानेवाली धमनी की फड़क को हम नाड़ी के स्पन्दन के नाम से पुकारते हैं और उसकी गति या चाल को परखकर प्रायः हृदय की स्वास्थ्य-संबंधी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हमें मिल सकती हैं। हमारे देश के अनेक अनुभवी वैद्य और हकीम केवल नाड़ी-परीक्षा द्वारा ही रोग के संबंध में बहुतेरी बातें मालूम कर लेते हैं, क्योंकि बहुतेरी बीमारियों का हृदय और उसकी नाड़ियों की गति पर अलग-अलग तरह से विशिष्ट प्रभाव

हृदय से बाहर प्रवाहित होता है। ये **धमनियाँ** (Arteries) कहलाती हैं। दूसरी वे हैं, जिनके मार्ग से रक्त पुनः वापस हृदय को लौटता है। ये **शिराएँ** (Veins) कही जाती हैं। इनके अतिरिक्त तीसरी एक और प्रकार की नलिकाएँ हैं, जो छोटी धमनियों और सूक्ष्मतम शिराओं के सिरों के बीच एक तरह के संयोजक जाल के रूप में हर अंग में फैली हुई हैं। ये नलियाँ केश-जैसी पतली होती हैं, इसीलिए इन्हें **केशिकाएँ** (Capillaries) कहा जाता है। उनकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ आपस में उलझी रहती हैं। वे इतनी अधिक सूक्ष्म होती हैं कि बिना सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र की सहायता के देखी भी नहीं जा सकतीं। यही



हृदय का बाह्य और आभ्यंतरिक दृश्य

बाईं ओर, हृदय और उससे संलग्न रक्तनलिकाओं का बाहरी दृश्य है। दाहिनी ओर, लंबाई में काटने पर उसके भीतरी प्रकोष्ठों की रचना दिखाई दे रही है। क—दाहिना क्षेपक कोष्ठ, ख—बायाँ क्षेपक कोष्ठ, ग—दाहिना ग्राहक कोष्ठ, घ—बायाँ ग्राहक कोष्ठ, च—महाधमनी, छ—ऊर्ध्व महाशिरा, ज—फुफ्फुसीया धमनी, झ—पेपिलरी पेशी, ट—महाधमनी का कटा अंश।

पड़ता है, जो पहचाना जा सकता है। यह तो सभी जानते हैं कि ज्वर की दशा में नाड़ी की गति तापमान के चढ़ाव-उतार के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है।

रक्त किन प्रणालियों में होकर बहता है?

शरीर में रक्त-संचार क्योंकर होता है, यह वर्णन करने के पहले उचित है कि उन नालिकाओं या प्रणालियों की बनावट के बारे में आवश्यक विवरण दे दिया जाय, जिनमें होकर रुधिर-धारा प्रवाहित होती है। ये नलिकाएँ तीन प्रकार की हैं, जिनमें पहली वे हैं जिनके द्वारा रक्त

सूक्ष्म नलियाँ धमनियों से शिराओं में रक्त के निस्सरण के लिए माध्यम या मार्ग का काम देती हैं। जैसा कि आगे चलकर आपको ज्ञात होगा, धमनियाँ हृदय से शरीर के प्रत्येक तन्तु तक शुद्ध ओषजनयुक्त रक्त पहुँचाने का काम करती हैं और ओषजनरहित तथा अशुद्ध हो जाने पर उसी रक्त को वापस हृदय तक ले जाने का कार्य शिराओं के सिपुर्द है। किन्तु न तो धमनियों न शिराओं का ही शरीर-तन्तुओं से एकदम सीधा सम्बन्ध है—इस कार्य का उत्तरदायित्व उन्हीं सूक्ष्म केशिकाओं के जाल पर है, जिनका उल्लेख ऊपर

किया गया है। इन केशिकाओं के द्वारा ही पोषक तत्त्व शुद्ध रक्त से निस्सरित होकर शरीर-तन्तुओं को मिलता और उन्हीं के मार्फ़त तन्तुओं का मल अशुद्ध रक्त की धारा में आकर मिलता है। बड़ी धमनियों से अनेक छोटी-छोटी शाखा-प्रशाखाएँ फूटकर सारे शरीर में फैल गई हैं। इन्हीं के अन्तिम सिरे केशिकाओं के रूप में अवस्थित हैं। इसी प्रकार केशिकाओं से सूक्ष्मतम शिराओं की नलियाँ फूटकर क्रमशः एक-दूसरे में मिलती चली गई हैं और अन्त में महाशिराएँ बन गई हैं।

धमनियाँ

धमनियाँ बड़ी मज़बूत, मोटी, और रबड़ की तरह स्थितिस्थापक (elastic) नलियाँ होती हैं। इनकी दीवारें तीन पर्त्तों की होती हैं। इन पर्त्तों में सबसे बाहरी पर्त्त बहुत अधिक स्थितिस्थापक होती है, जिसकी वजह से नलिका के भीतर की ओर रक्त का दबाव समान बना रहता है—वह अपनी ऐंठन द्वारा क्रमशः रक्त को आगे धकेलती रहती है। इसी तरह बिचली पर्त्त सौत्रिक तन्तुओं की एक मोटी पर्त्त होती है, जो अपने आकुंचन द्वारा धमनी का आकार कम कर सकती है और इस प्रकार उसमें बहनेवाले रक्त की मात्रा भी आवश्यकतानुसार घटा सकती है। तीसरी अर्थात् सबसे भीतरी पर्त्त पतली और चिकनी होती है, जिससे रक्त बिना किसी अड़चन या रगड़ के फिसलता हुआ बहता रहता है।

यदि हमारी धमनियों की नलियाँ स्थितिस्थापक न होतीं और उनकी रचना पेशियों की तरह मांस द्वारा न हुई होती तो उनमें से होकर रक्त हृदय की धड़कन की गति के अनुसार रुक-रुककर क्रमशः धक्कों के साथ आगे की ओर बढ़ता। यह धमनियों की विशिष्ट बनावट की ही बदौलत है कि वह हृदय से शरीर के कोषों तक और उन कोषों से वापस हृदय तक एक निरंतर सुसम्बद्ध धारा के रूप में प्रवाहित होता है। वस्तुतः धमनी की दीवार की मांसरचित बिचली पर्त्त हमारे शरीर के लिए प्रकृति की एक महत्त्वपूर्ण नियामत है। हमारे किसी भी अंग के लिए रक्त की रसद की आवश्यकता उसकी माँग के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है और यह सदैव एकसमान नहीं रहती। उदाहरणार्थ, हमारे आमाशय या पेट को विश्रान्ति की अवस्था की अपेक्षा पाचन-क्रिया एवं पाचक रस बनाने में व्यस्त रहने की दशा में अधिक परिमाण में रक्त की आवश्यकता होती है। किसी भी अंग के लिए आवश्यक रक्त की मात्रा की रसद-पूर्त्ति में कमी-बेशी की यह व्यवस्था धमनियों की दीवार के सौत्रिक तन्तुओं के आकुंचन या प्रसार द्वारा संयोजित होती है। यदि नलिका की आकृति सिकुड़कर कम हो जाय तो स्वभावतः ही उसमें बहनेवाले रक्त की मात्रा कम हो जायगी और इसी प्रकार प्रसरित होने पर वही अधिक हो सकती है। अधिकांश धमनियों में एक की शाखाएँ अन्य अंगों को जानेवाली दूसरी धमनियों की शाखाओं से स्वच्छन्दतापूर्वक संबद्ध होती हैं ताकि यदि एक प्रणाली से रक्त की पूर्त्ति कम हो जाय या बिल्कुल बंद भी हो जाय तो दूसरी प्रणाली द्वारा उसके अभाव की पूर्त्ति की जा सकती है।

धमनियों में सबसे बड़ी और मोटी वह है जो बृहत् धमनी (Aorta) के नाम से पुकारी जाती है। यह हृदय के बाएँ क्षेपक कोष्ठ से निकलनेवाली शुद्ध रक्त की प्रधान प्रणाली है, जो क्रमशः अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभाजित होकर अन्त में अपने आख़िरी सिरों यानी केशिकाओं में जाकर समाप्त हो जाती है। हृदय से निकलकर कुछ दूर तक तो वह ऊपर की ओर जाती है और इसी फ़ासले में उसकी आरम्भिक मुख्य शाखाएँ उससे फूटकर सिर और बाँहों की दिशाओं में चली गई हैं, तदनन्तर एक चौड़ा मेहराबनुमा मोड़ लेकर वह बाईं ओर को घूम जाती है और हृदय के पीछे से निकलती हुई एकदम नीचे को चली गई है, जहाँ उसमें से भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटकर क्रमशः आमाशय, पक्वाशय और उदरस्थित अन्य अंगों में फैल गई हैं। इससे भी और नीचे जाने पर वह दो प्रधान उपशाखाओं में विभाजित हो जाती हैं, जिनमें से प्रत्येक पैरों के रास्ते ठेठ पाँव की उँगलियों तक चली गई है।

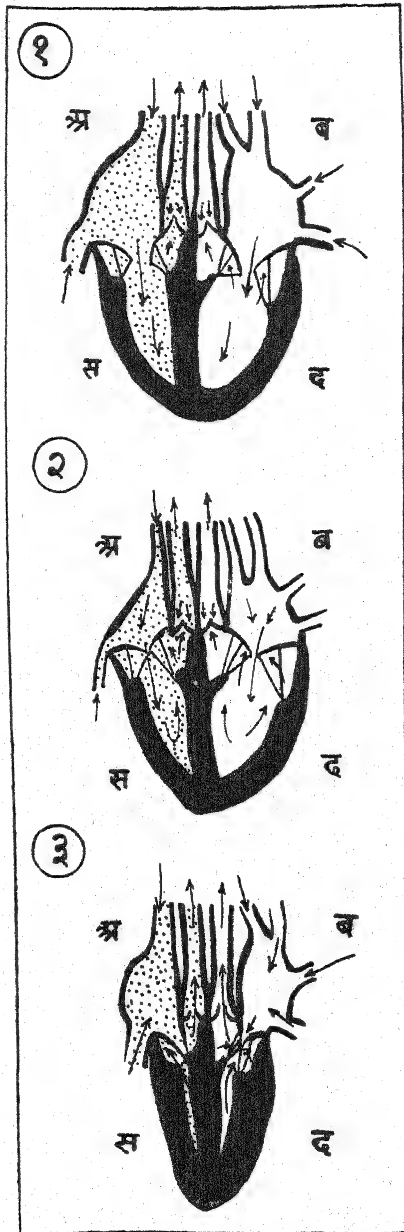
वयस्क स्त्री-पुरुषों में बृहत् धमनी इतनी चौड़ी होती है कि उसमें एक साथ दो या तीन उँगलियाँ तक समा सकती हैं। स्वस्थ दशा में यह बृहत् नली रबड़ की एक बड़ी नली जैसी स्थितिस्थापक (elastic) होती है। उसकी इस स्थितिस्थापकता का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इस गुण द्वारा वह हृदय की प्रत्येक धड़कन के बीच की विराम की अवस्था में रक्त को आगे धकेलने के लिए आवश्यक शक्ति की पूर्त्ति करने में महत्त्वपूर्ण योग देती है। प्रत्येक धड़कन के साथ ही बृहत् धमनी ताज़ा रक्त से भर जाती और फलतः फूलकर फैल जाती है। तब अपने स्थितिस्थापकता के गुण की बदौलत उसकी दीवार के सौत्रिक तंतु ऐंठन द्वारा संकुचित हो रक्त को आगे धकेलने में मदद करते हैं, जिससे उसका प्रवाह समान बना रहता है।

बाएँ की तरह दाहिने क्षेपक कोष्ठ से भी एक बड़ी धमनी निकलती है, जिसे 'फुफ्फुसीया धमनी'(Pulmonary Artery) कहते हैं। इसकी दो शाखाएँ हैं, जो क्रमशः दाहिने और बाएँ फुफ्फुस में प्रविष्ट होकर अति सूक्ष्म प्रशाखाओं के रूप में फुफ्फुस-कोठरियों के समस्त धरातल पर फैल गई हैं, जिससे कि उनकी सारी पतली दीवार पर रक्त पसर जाता है।

उपर्युक्त प्रधान धमनियों में से प्रत्येक के आरंभ में अति सुदृढ़ अर्द्धचन्द्राकार परदेनुमा कपाट लगे हुए हैं, जो प्रत्येक धड़कन के साथ हृदय से निस्सरित होनेवाले रक्त की मात्रा को धमनियों में प्रवाहित होने से पूर्व क्षण भर के लिए रोक रखने और तब आगे बढ़ने देने का काम साधते हैं।

केशिकाएँ

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धमनियों की अंतिम प्रशाखाएँ अर्थात् केशिकाएँ इतनी महीन होती हैं कि वे नंगी आँखों से नहीं देखी जा सकतीं। वे बेहद बारीक सूत्रवत् खोखली नलियों जैसी होती हैं और जाली के रूप में आपस में गुँथी रहती हैं जिसका फैलाव या आकार विशिष्ट आवश्यकतानुकूल कम या ज़्यादा होता रहता है। केशिकाओं की सूक्ष्मता का कुछ अन्दाज़ आप इस बात से लगा सकते हैं कि यदि १५०० से ३००० तक केशिकाएँ एक से एक जुटाकर रक्खी जायँ तो वे केवल एक इञ्च जितनी जगह ही घेरेंगी। किन्तु इतनी अधिक सूक्ष्म होने पर भी इन केशिकाओं में शरीर की तमाम धमनियों के



हृदय का आकुंचन और प्रसार

१. आकुंचन से पहले की दशा—प्रकोष्ठ रक्त से भरपूर हैं; २. आकुंचन आरंभ होने पर आयात-द्वार बंद होने जा रहे हैं; ३. पूरी तरह आकुंचन हो गया है—रक्त निर्यात-द्वारों के रास्ते बाहर धकेल दिया जा रहा है। चित्र में अ, ब, स और द क्रमशः दाहिने और बाएँ ग्राहक और क्षेपक कोष्ठों के सूचक हैं। तीर द्वारा रक्त के बहाव की दिशा दिखाई गई है।

रक्त से ५०० गुना अधिक रक्त भरा रहता है। ये महीन नलिकाएँ हमारे शरीर में हर जगह विद्यमान हैं, सिवाय कुछ स्थानों के; जैसे त्वचा की सबसे ऊपरी पर्त्त में, भीतरी झिल्ली या कलाओं की कतिपय पर्त्तों में, हृदय की दीवार में, दाँत को बनानेवाले द्रव्य में, और आँख की पुत्तलिका में। केशिकाओं में से होकर रुधिर प्रति मिनिट एक इंच की गति से शिराओं की ओर बहता है। इस दौरान में उसके द्रव भाग का कुछ अंश शरीर-तंतुओं की लसीका की रसद पूरी करने के लिए केशिकाओं की दीवार में से छनकर बाहर निकल जाता है और आवश्यकता पड़ने पर उसका प्रवाह उलटकर तन्तुओं से वापिस केशिकाओं में भी होने लगता है। इसी प्रकार रक्त के श्वेत कण भी केशिकाओं की पतली दीवार में से निकलकर कोषों में जा मिलने का सामर्थ्य रखते हैं। उनके इस प्रकार किसी एक भाग विशेष में आकर जमा होने की प्रवृत्ति शरीर के किसी भी हिस्से के प्रदाह (inflammation) की अवस्था में विशेष रूप से बढ़ जाती है और उस दशा में उनके साथ-साथ रुधिर के कुछ रक्तकण भी केशिकाओं की दीवार के उस पार छनकर निकल आते हैं। प्रायः हमारे शरीर की स्वस्थ त्वचा का रंग जो गुलाबी-सा दिखाई देता है वह उसके नीचे केशिकाओं की मौजूदगी के कारण ही है, और लज्जा के आवेग में जब वह रक्तिम लालिमा बढ़ जाती है तो उसका कारण यही होता है कि

उस समय उस जगह की केशिकाओं में रक्त की मानों बाढ़-सी आ जाती है।

हमारे शरीर के ऊपरी आवरण पर छाई हुई केशिकाएँ हमारे बदन के तापमान का नियंत्रण करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण योजना का काम देती हैं, जैसा कि त्वचा की रचना और क्रिया-विषयक एक पूर्ववर्त्ती लेख में इसी स्तम्भ के अन्तर्गत स्पष्टतया समझाया जा चुका है। जबकि केशिकाएँ रक्त से ख़ूब भरपूर होती हैं, उस दशा में हमारी त्वचा यदि अति शीतल वायु के संस्पर्श में आए तो परिणाम यह होता है कि रक्त और शरीर का तापमान कम हो जाता है। तापमान के इस अनावश्यक उतार को रोकने के लिए प्रकृति छोटी धमनियों को सिकुड़ने के लिए विवश करती है, जिससे ऊपरी पृष्ठ की अनेक केशिकाओं के रसद का मार्ग बन्द हो जाता है और इसप्रकार शरीर का भीतरी गर्म रक्त ऊपरी सतह तक नहीं पहुँचता। यही कारण है कि बेहद ठंढ के मौसम में हमारी त्वचा सिकुड़ी हुई और रक्तहीन या पीली-पीली-सी दिखाई देने लगती है। इसके विपरीत गर्मी के मौसम में हमारे शरीर की चमड़ी अधिक लाल दिखाई देने लगती है, जिसका अर्थ यह हुआ कि वह अधिकाधिक मात्रा में रक्त को ऊपरी सतह तक पहुँचाकर उसे अतिरिक्त ताप से मुक्त होने देती है। शारीरिक तापमान के उचित नियंत्रण की इस प्राकृतिक योजना को आवश्यकता से अधिक वस्त्र पहन लेने की आदत द्वारा हम सहज ही गड़बड़ में डाल सकते हैं और इसी प्रकार हम चाहें तो त्वचा को खुले वातावरण की आदी बनाकर और भी अधिक क्रियाशील बनाने में भी सफल हो सकते हैं।

शिराएँ

शरीर के तमाम भागों में वितरित होने के उपरान्त रुधिर जिन प्रणालियों में होकर पुनः वापस हृदय में आता है उनकी बनावट उसी ढंग की होती है जैसी धमनियों की। अन्तर केवल यही है कि इन शिराओं की दीवारें धमनियों की दीवार की अपेक्षा बहुत पतली होती हैं और इसी अनुपात में उन दीवारों की तीनों पर्तों की मोटाई में भी अन्तर है। शिराओं में स्थितिस्थापक एवं मांसरचित पर्त्तें बहुत ही कमज़ोर हैं, जिसके कारण वे रक्त से भर जाने पर सहज ही फूल जाती हैं और खाली होने पर शिथिल हो जाती हैं। इनमें जो वाल्व या कपाट होते हैं वे नहरों के बाँधों के निर्यात-द्वार जैसे होते हैं—वे रक्त को केवल एक ही दिशा में अर्थात् हृदय की ओर बहने देते हैं। ऐसे कपाट प्रायः वहाँ होते हैं जहाँ विभिन्न छोटी शिराएँ आकर बड़ी प्रणाली में मिलती हैं। धमनियों से ठीक विपरीत, केशिकाओं के जाल से एक प्रकार की अति सूक्ष्म रक्तवाहिनी नलिकाएँ निकलती हैं, जिन्हें हम 'शिराक' (Venules) के नाम से पुकार सकते हैं। ये सूक्ष्म प्रणालियाँ बार-बार एक दूसरे में मिलती हुई बड़ी शिराओं की रचना करती हैं। हृदय से जो रक्त बृहत् धमनी द्वारा सिर और भुजाओं में पहुँचाया जाता है, वही लौटकर 'ऊर्ध्व महाशिरा' (Superior or Anterior Vena Cava) नामक प्रणाली द्वारा वापस हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ में पहुँचता है। इसी प्रकार धड़ और पैरों का अशुद्ध रक्त 'निम्न महाशिरा' (Inferior or Posterior Vena Cava) नामक प्रणाली द्वारा वापस हृदय को लौटता है। किन्तु चूँकि उपर्युक्त दोनों प्रधान बृहत् शिराओं की समाई मिलकर महाधमनी की समाई से दुगुनी होती है अतएव शिराओं में रक्त के प्रवाह की गति धमनियों से आधी ही होती है—अर्थात् उनमें रक्त उतनी तेज़ चाल से नहीं बहता जितना कि धमनियों में।

फुफ्फुसों से रक्त हृदय को जिन प्रणालियों द्वारा वापस आता है वे चार शिराएँ हैं, जिन्हें 'फुफ्फुसीया शिराएँ' (Pulmonary Veins) कहते हैं। ये फुफ्फुसों से रक्त लेकर बाएँ ग्राहक कोष्ठ में प्रवेश करती हैं। इन तमाम रक्तवाहिनी प्रणालियों और शरीर में उनकी स्थिति तथा मार्ग का स्पष्ट निर्देश इस लेख के आरंभ में प्रस्तुत रंगीन चित्र में किया गया है। साथ ही उस चित्र में एक ओर केशिकाओं के द्वारा रक्त-संचार की क्रिया भी अलग से दिखलाई गई है।

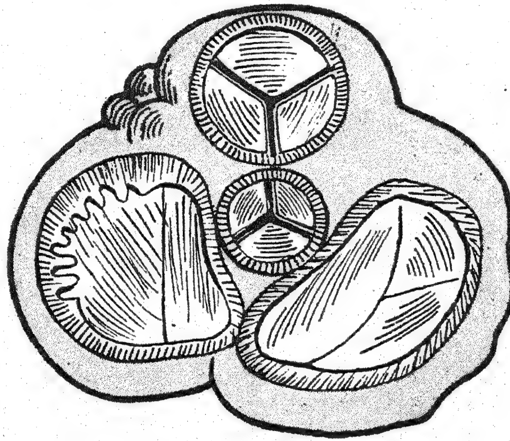
रक्त-परिभ्रमण क्योंकर होता है और किस प्रकार वह जारी रहता है?

तीन प्रकार की रक्त-नलिकाओं के ऊपर दिए गए विवरण से आपको यह बात भली भाँति स्पष्ट हो गई होगी कि हमारे शरीर में रक्त-संचरण की दो विभिन्न और एक दूसरे से अलग प्रणालियाँ हैं—प्रथम, हृदय से फुफ्फुसों को और वहाँ से वापस हृदय को; दूसरी, हृदय से शरीर के तमाम अन्य भागों को और वहाँ से वापस हृदय को। इनमें प्रथम को 'लघु या फुफ्फुसीय रक्त-संचरण' (Lesser or Pulmonary Circulation) और दूसरी को 'बृहत् या दैहिक रक्त-संचरण-प्रणाली (Greater or Systemic Circulation) कहते हैं। जब हमने

ऊपर यह निर्देश किया कि धमनियाँ शुद्ध ओषजन से युक्त रक्त को हृदय से शरीर-कोषों तक पहुँचातीं और शिराएँ अशुद्ध ओषजनरहित रक्त को वहाँ से हृदय को वापस लाती हैं तो हमारा तात्पर्य बृहत् रक्त-संचरण से ही था। इसके विपरीत फुफ्फुसीय रक्त-संचरण में उल्टी ही विधि पाई जाती है—अर्थात् फुफ्फुसीया धमनी द्वारा हृदय से फुफ्फुसों को जो रक्त जाता है वह अशुद्ध और ओषजन-वंचित होता है तथा वहाँ से फुफ्फुसीया शिराओं द्वारा वापस हृदय को आनेवाला रुधिर शुद्ध और पूर्णतया ओषजनयुक्त होता है।

बृहत् परिभ्रमण के द्वारा ओषजन और अन्य पोषक द्रव्य से लदा शुद्ध रक्त धमनियों की राह शरीर के प्रत्येक भाग को भेजा जाता और केशिकाओं में पहुँचकर उसका पोषक द्रव्य छिटककर शरीर-कोषों में वितरित हो जाता है। साथ ही कोषों का मल और अन्य विजातीय द्रव्य उन्हीं केशिकाओं के मार्फ़त वापस लौटती हुई रक्तधारा में मिश्रित हो जाता है। यह अशुद्ध रक्त शिराओं द्वारा इकट्ठा किया जाकर हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ में उँडेल दिया जाता है, ताकि वहाँ से वह शुद्ध होने के लिए फुफ्फुसों को भेजा जा सके। इस प्रकार इस परिभ्रमण-प्रणाली का उद्देश्य शरीर को पोषक तत्त्व पहुँचाना और उससे विजातीय मल को बटोरकर दूर करना ही है।

इस परिभ्रमण में रक्त को शरीर के किसी-किसी भाग तक पहुँचकर वापस लौटने में कम समय लगता है और अन्य भागों का चक्कर लगाने में ज़्यादा। इस प्रकार हृदय से मस्तिष्क को जाने और वहाँ से वापस लौटने में उसे सबसे कम अर्थात् लगभग १५ सैकंड समय लगता है। औसतन् रक्त की एक बूँद ४५ सैकंड में सारे शरीर का चक्कर लगा आती है। प्रति मिनिट छः क्वार्ट (अर्थात् कई बोतल भर) रक्त हृदय द्वारा पंप करके बाहर भेजा जाता है; जिसका अर्थ यह हुआ कि प्रति दिन वह मानों २००० गैलन से भी अधिक रक्त फेफड़ों को भेजता और वहाँ से वापस खींचता है। अब सवाल यह उठता है कि किसके बल पर रक्त इतनी अधिक मात्रा में प्रणालियों के जटिल जंजाल में से होकर निरंतर प्रवाहित होता रहता है—वह कौन-सी शक्ति है जिससे रक्त-परिभ्रमण की यह क्रिया होती है और जारी रहती है? और क्योंकर हम उसका निश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं? निस्संदेह ये बड़े जटिल प्रश्न हैं। किन्तु पिछले ३०-४० वर्षों में इस संबंध में बहुत-कुछ प्रकाश मिला है। यदि हमें रक्त-परिभ्रमण की क्रिया का मूर्त्त रूप अच्छी तरह समझना है तो आइए, रक्त के साथ-साथ उसके संचरण की सारी प्रणाली की हम कल्पना द्वारा एक दौड़ लगा लें। हम वहाँ से अपनी यात्रा शुरू करें जहाँ कि रक्त शुद्ध दशा में फुफ्फुसीया शिराओं के रास्ते हृदय के बाएँ ग्राहक कोष्ठ में आता है। देखिए, वह ग्राहक कोष्ठ में तब तक उमड़ता ही चला जाता है जब तक कि कोष्ठ रक्त से भरपूर नहीं हो जाता। तब एक निश्चित क्षण पर उसके फ़र्श का कपाट या वाल्व एक रहस्यपूर्ण ढंग से एकाएक खुल जाता और कोष्ठ की मांसरचित दीवारों के सुदृढ़ आकुंचन द्वारा रक्त ऊपरी ग्राहक कोष्ठ से नीचे को बाएँ क्षेपक कोष्ठ में ज़ोरों से उमड़कर तत्काल उसका प्रसार कर देता है। पुनः निचले कोष्ठ की विशिष्ट मांसरचित दीवारें भी सिकुड़कर अपना दबाव डालती हैं, किन्तु ग्राहक कोष्ठ से संबंधित चोरदरवाज़ा, जिसमें से होकर रक्त क्षेपक कोष्ठ में आया था, अब चूँकि पूर्णतया बंद हो गया है और नीचे की ओर से दबाव डालने पर कदापि नहीं खोला जा सकता, अतएव इस कोष्ठ से रक्त महाधमनी में प्रवाहित होने के लिए विवश हो जाता है। बाएँ क्षेपक कोष्ठ के पूर्ण आकुंचन के फलस्वरूप हृदय से महाधमनी में धकेली गई रुधिर-राशि एक बड़ी लहर के रूप में बृहत् रक्त-संचालन-प्रणाली में अग्रसर होती है और उसके



हृदय के कपाट या वाल्व

यदि हम हृदय को बीच में से इस प्रकार आड़ा काट दें कि दोनों ग्राहक कोष्ठ और बृहत् रक्त-प्रणालियाँ कटकर उससे जुदा हो जायँ तो ऊपर से देखने पर हृदय के ऐसे ही तीन प्रकार के परदेनुमा कपाट हमें दिखाई देंगे।

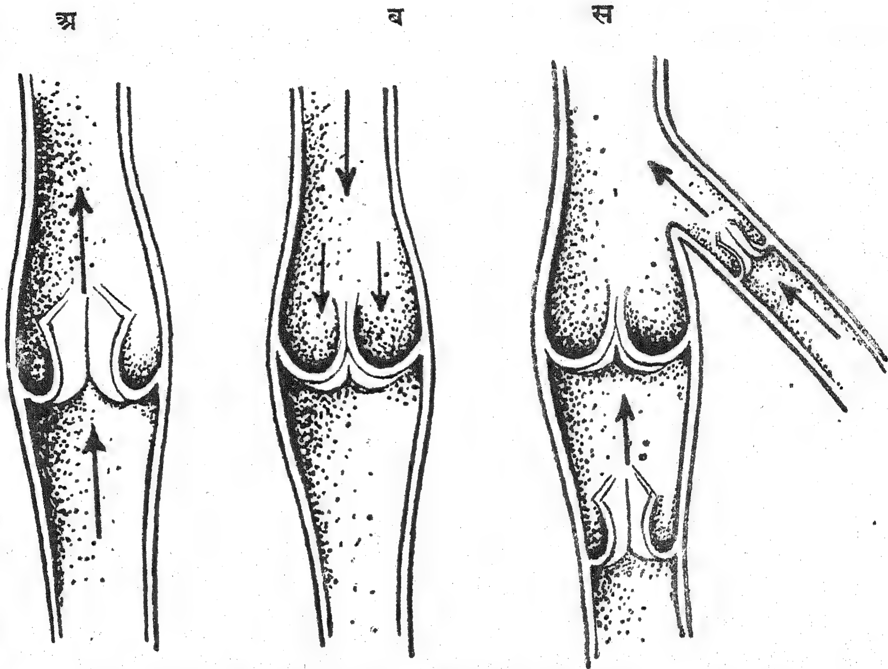
आवेग से बृहत् धमनी के अर्द्धचन्द्राकार कपाट इस प्रकार खुलकर राह दे देते हैं कि इस ओर से तो रक्त-धारा प्रवाहित होती रहे, किन्तु वापस उल्टी दिशा में न बहने पाए। इस समूची क्रिया से वेग की जो लहर उत्पन्न होती है, वह प्रत्येक धड़कन के साथ बिजली की तरह धमनियों के सारे जंजाल में व्याप्त हो जाती है। इस प्रकार एक के बाद एक क्रमशः ज्यों-ज्यों रुधिर की मात्राएँ इन प्रणालियों में से होकर गुज़रती हैं, वे उनका आकुंचन और प्रसार करती रहती हैं और स्थितिस्थापकता तथा अन्य गुणों की सहायता से एकसमान दबाव बनाए रखती हैं। इस प्रकार रुधिर धमनियों से केशिकाओं में आ पहुँचता है। इसके बाद, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, वह अपने पोषक तत्त्व के बोझ से मुक्त होकर तथा मल-द्रव्य एकत्रित कर शिराओं में बह निकलता है और इनमें विद्यमान एक हल्के से उल्टे दबाव तथा बृहत् शिराओं—विशेषकर पैर की शिराओं—में समुचित स्थानों में लगे हुए अर्द्धचन्द्राकार कपाटों के सहयोग से पुनः हृदय में वापस खींच लिया जाता है। ये कपाट या वाल्व रक्त को दाहिने ग्राहक कोष्ठ तक की लंबी मंज़िल की चढ़ाई करने में प्रचुर सहायता देते हैं। दाहिना ग्राहक कोष्ठ ठीक बाएँ ग्राहक कोष्ठ के साथ-ही-साथ सिकुड़ता है और उसमें पहुँचकर रक्त के साथ वैसा ही व्यवहार होता है जैसा कि बाईं बाज़ू में हुआ था। यह कोष्ठ भी रक्त से भरकर एकबारगी ही फूलकर कुप्पा हो जाता है, उसके फ़र्श के तीन परदेनुमा किवाड़ों से युक्त कपाट या वाल्व खुल पड़ते हैं, साथ ही उसकी दीवार की पेशियाँ सिकुड़तीं और फलतः रक्त तेज़ी से दाहिने क्षेपक कोष्ठ में भर जाता है, जहाँ से वह उक्त कोष्ठ के आकुंचन द्वारा पुनः फुफ्फुसीया धमनियों में फेंक दिया जाता है। इस प्रकार अंत में वह वापस फेफड़ों में आ पहुँचता है जहाँ से कि वह प्रारंभ में चला था।

रक्त-परिभ्रमण को जारी रखनेवाली विविध शक्तियाँ

रक्त-परिभ्रमण जिन शक्तियों द्वारा परिचालित और नियंत्रित होता है, उनमें हृदय निस्संदेह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रधान है। किन्तु इसके अतिरिक्त कम से कम तीन शक्तियाँ और भी हैं, जो इस क्रिया में योग देती हैं। इनमें एक तो है बृहत् धमनियों की दीवारों का स्थितिस्थापकता का गुण, जो हृदय की धड़कनों के बीच के विराम के समय में उसकी शक्ति को संचित कर जमा रखने का कार्य साधता है, जैसा कि धमनियों के विवरण के संबंध में बताया जा चुका है। धमनियों की यह स्थितिस्थापकता की शक्ति कतिपय रोगों में नष्ट हो जाती है, जिससे तंदुरुस्ती पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। दूसरी शक्ति, जो रक्त-परिभ्रमण के संचालन में सहायता देती है, हमारी श्वसन-क्रिया है। इस क्रिया के दौरान में प्रत्येक बार जब हम अपनी छाती फुलाते हैं तो न केवल उस समय हम अपने भीतर वायु ही खींचते प्रत्युत् साथ-ही-साथ रक्त को भी शिराओं से हृदय में खींचते हैं। जो लोग बहुत ही कमज़ोर और मंद रीति से श्वास लेते हैं उनका रक्त-परिभ्रमण सदैव कमज़ोर पाया गया है, क्योंकि वे इस कार्य का सारा बोझ हृदय पर ही डाल देते हैं। यही कारण है कि गहरी और संपूर्ण श्वास लेने की आदत डालने पर इतना अधिक महत्त्व दिया जाता है। वस्तुतः किसी भी पूर्ण रूप से क्रियाशील वक्षःस्थल का अर्थ है शिराओं से हृदय को एवं वहाँ से फेफड़ों को जानेवाले मार्ग का बिल्कुल साफ़ और बाधारहित होना, साथ ही इन संस्थानों को निरंतर पर्याप्त शुद्ध वायु भी मिलते रहना।

श्वसन-क्रिया के विवरण में यह बताया जा चुका है कि किस प्रकार श्वासोच्छ्वास के समय वक्षःस्थल के आंदोलन द्वारा रक्त शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोषों में भर जाता है और किस प्रकार वह शक्ति में परिणत होकर परिश्रम के समय काम आने के लिए उन कोषों में संचित रहता है। यह अनुभव की बात है कि एकाएक कठोर श्रम का भार आ पड़ने पर हम बरबस अपनी साँस रोक लेते यानी दम साध लेते हैं और इसके बाद हमें काफ़ी गहरी साँसें लेना पड़ता है। ऐसे मौक़ों पर हमारे वे अंग, जिन पर श्रम का अधिक बोझ पड़ता है, रुधिर की लालिमा से रक्ताभ हो जाते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि हमारे साधारण रक्त-परिभ्रमण के भीतर ही भीतर अन्य एक और प्रकार का रक्त-संचालन भी होता रहता है और उसका नियंत्रण धमनियों की दीवार की बिचली पर्त्त की पेशियों द्वारा होता है। ये पेशियाँ वात-नाड़ियों के नियंत्रण में रहती हैं, अतएव आवश्यकता पड़ने पर इस व्यवस्था द्वारा शरीर के किसी भी भाग को चाहे रुधिर द्वारा एकदम परिप्लावित किया जा सकता है, चाहे पर्याप्त रुधिर की मात्रा से वंचित भी रक्खा जा सकता है। उदाहरण के लिए, भोजन के बाद हमारे रुधिर का

शिराओं के कपाट या वाल्व रक्त को केवल एक ही दिशा में बहने देते हैं

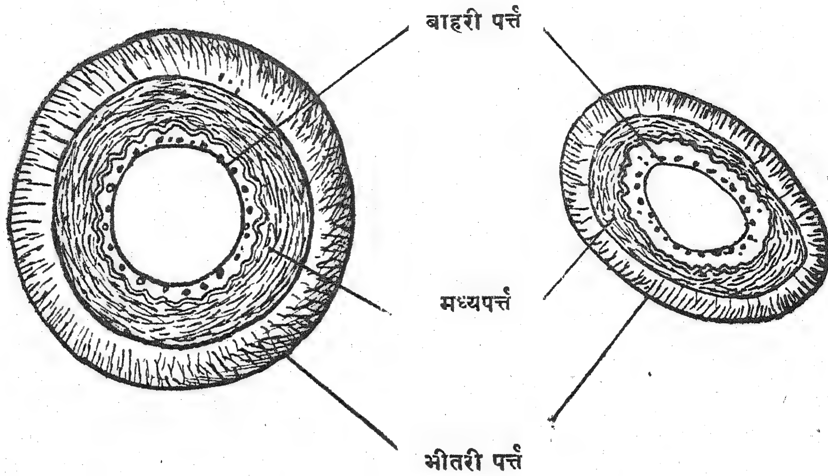


(अ) इस चित्र में शिरा को काटकर उसके भीतर के कपाट या वाल्वों को उस दशा में दिखाया गया है जब उनमें होकर रक्त एक दिशा में प्रवाहित होता रहता है। देखिए, कपाट खुलकर शिरा की दीवार से चिपक गए हैं। रक्त के बहाव की दिशा तीर के चिह्नों द्वारा दिखलाई गई है। (ब) रक्त ने पलटकर जो उलटी दिशा में बहने का प्रयास किया तो फ़ौरन् वाल्व या कपाट बंद हो गए। (स) इस चित्र में एक प्रधान शिरा और उसमें आकर जुड़नेवाली उपशिरा का मानचित्र है। देखिए, दोनों के संगम पर कैसे कपाटों की व्यवस्था है कि रक्त एक ही ओर बहता रहे, पलटकर वापस उपशिरा में न आने पावे।

अधिकांश भाग आमाशय के क्षेत्र में प्रवाहित होता रहता है और इसी तरह मनन करते समय मस्तिष्क के क्षेत्र में तथा दौड़ते समय पैरों में। ऐसे अवसरों पर इनकी अपेक्षा शरीर के अन्य भागों को कम रुधिर मिला करता है। यही कारण है कि भोजन करने के उपरान्त तुरन्त ही कठोर मानसिक परिश्रम वर्जित है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि रक्त-संचार को जारी रखनेवाली विविध शक्तियों में तीसरा स्थान हमारे वात-संस्थान का है और इसका महत्त्व अभी-अभी हमारी जानकारी में आने लगा है। यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि हृदय में कुछ निश्चित स्थलों पर वात-नाड़ियों के महत्त्वपूर्ण नियंत्रण-केन्द्र प्रस्थापित हैं, जिनके द्वारा हृदय की लययुक्त समान गति अर्थात् ग्राहक और क्षेपक कोष्ठों के भरने और खाली होने के निश्चित क्रम या आकुंचन और प्रसार का नियंत्रण होता है। यह चक्रवत् क्रिया ऐसे सुनिश्चित क्रम और सही तरीक़े से होती है कि उसकी तुलना में अच्छे से अच्छे मोटर-इंजीनीयरों की कला भी निश्प्रभ प्रतीत होती है। यदि इस व्यवस्था में कोई गड़बड़ हो जाय तो उसका पता विद्युत्-यंत्रों द्वारा हृदय की गति का आलेख लेने की विशिष्ट वैज्ञानिक पद्धतियों से लगाया जा सकता है। इस प्रकार न केवल हृदय की क्रिया-प्रक्रिया में असाधारणता की मात्रा का ही अंदाज़ लगाया जा सकता है, प्रत्युत् यह भी मालूम किया जा सकता है कि हृद्गत पेशियों के संचालक वात-केन्द्रों में किस हद तक बिगाड़ हुआ है। ये वात-केन्द्र विशिष्ट मांस-रचित क्षेत्रों द्वारा अपना आदेश भेजते हैं और मानवीय भ्रूण की अभी हाल की कुछ जाँचों से इस संबंध में सौत्रिक तंतुओं की एक क्रमबद्ध शृंखला का भी पता चला है।

हृदय की यह आंतरिक वात-पेशीसंयुक्त व्यवस्था हमारे शरीर के केन्द्रीय वात-संस्थान से पृथक् नहीं है—इन दोनों में सुदृढ़ संबंध पाया गया है। वस्तुतः केन्द्रीय वात-संस्थान हृदय की स्थानीय व्यवस्था के लिए एक तरह की लगाम का काम करता है। यह नियंत्रण मस्तिष्क से आनेवाली 'दशम नाड़ी' (Vagus Nerve) द्वारा होता है। इसके साथ-साथ पिंगल नाड़ी-मंडल (Sympathetic Nervous System) अपने नाड़ी-जालों (Plexuses) द्वारा हृदय को उलटी तरह से प्रभावित



धमनी और शिरा की रचना

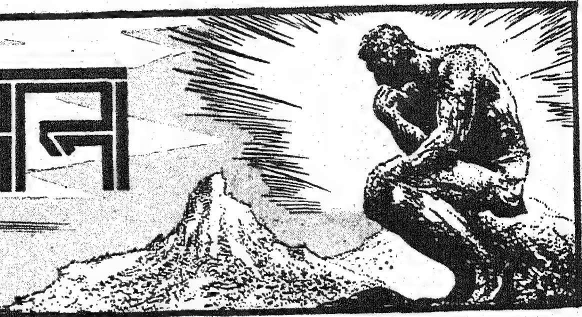
बाईं ओर, एक धमनी और दाहिनी ओर एक शिरा को आड़ी काटकर उनके मानचित्र दिखाए गए हैं। देखिए शिरा की पर्त्तें विशेषकर मध्य पर्त्त धमनी की पर्त्तों से कितनी कम मोटी हैं।

करता है अर्थात् वह उसकी गति तीव्र करने में योग देता है। अतएव सच तो यह है कि अधिकांश में 'हृदय की कमज़ोरी' की शिकायत नाड़ियों या वातसंस्थान की कमज़ोरी के कारण होती है न कि स्वयं हृदय की किसी ख़राबी या निर्बलता के कारण। प्रायः हमें शिथिलता, आँखों में अँधेरा छा जाना, चक्कर आना और इसी प्रकार की अन्य अप्रिय शिकायतें जो होने लगती हैं वे मूलतः केन्द्रीय नाड़ी-मण्डल में गड़बड़ी के ही फलस्वरूप होती हैं जिसका कि प्रभाव नियंत्रक नाड़ियों द्वारा हृदय और उससे संलग्न रक्तवाहिनी नलिकाओं पर पड़ता है।

हृदय की भाँति धमनियों पर भी वात-नाड़ियों का शासन और नियंत्रण है। यहाँ भी अनेक विशेष परि-स्थितियों के प्रभाव से, जैसे रस उत्पन्न करनेवाली ग्रंथियों के जमघट, विशिष्ट रासायनिक द्रव्यों की उपस्थिति, कार्बो-निक ऐसिड गैस के घनत्व आदि के कारण नियंत्रण करनेवाली नाड़ियों के रक्त-नलिका-संकोचक अथवा प्रसारक सौत्रिक तंतु अधिक सक्रिय हो उठते हैं और फलतः 'रक्त के दबाव' (Blood Pressure) अथवा रक्त के अपर्याप्त वितरण जैसी शिकायतें निगाह में आती हैं। बहुत संभव है कि शराब का एक प्रमुख प्रभाव धम-नियों का नियंत्रण करनेवाली नाड़ियों के कार्य में बाधा उपस्थित कर देना हो। यही कारण है कि शराब पिए हुए का बदन ऊपर से लाल हो उठता है और ऐसा प्रतीत होता है मानों उसका रक्त ऊपर सिर की ओर दौड़ रहा हो। यदि ऐसा व्यक्ति बहुत देर तक किसी ठंढी जगह में रहे तो बड़ी तेज़ी से वह अपने गर्माए हुए बदन की उष्णता खो बैठेगा और संभव है कि वह जान से भी हाथ धो बैठे! कई रोगों के विषों का भी ऐसा ही कुछ प्रभाव पड़ता है, जिससे कि रोगी या तो बेहद तेज़ी से गर्मी त्यागने लगता है या जितनी जल्दी चाहिए उतनी तेज़ी से नहीं त्याग पाता (और फलतः उसका तापमान बढ़ जाता है)। ज्योंही ऐसे रोग का दौरा समाप्त हुआ और रक्त-प्रणालियों की नाड़ियों का नियंत्रण पुनः ठीक हुआ त्योंही तापमान फिर सामान्य दशा पर आ जाता है। यह नाड़ीगत नियंत्रण, वस्तुतः, हमारी इच्छाशक्ति के परे की वस्तु है—उस पर हमारा बस नहीं है।

छोटी-छोटी रक्त-प्रणालियों का आकुंचन या प्रसार करनेवाली नाड़ियों की क्रिया-प्रक्रिया बहुत-कुछ रक्त में एड्रीनेलिन (Adrenalin) नामक द्रव्य की उपस्थिति या मात्रा पर निर्भर है जो कि दोनों गुर्दों के सिरों पर प्रस्तुत दो छोटी-सी ग्रंथियों द्वारा निस्सरित एक रस है। कुछ जानवरों में से निकालकर यह रस दवा के रूप में भी काम में लाया जाता है, जिसका प्रयोग मुख्यतः पेशियों की कार्यशीलता तथा रक्त के उपयुक्त दबाव को बनाए रखने के लिए होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रक्त-संचालन की क्रिया का समुचित नियंत्रण करने तथा प्रति मिनिट शरीर के हर भाग में शुद्ध रक्त की रसद-पूर्त्ति करते रहने में नाड़ियाँ, विशिष्ट प्रकार की पेशियाँ और ग्रंथियाँ सभी महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं। विशेषता केवल यह है कि नाड़ियाँ तत्काल कार्य करती हैं और ग्रंथियाँ धीरे-धीरे, किन्तु वे अपना काम करती हैं मुस्तैदी के साथ।



मन और शरीर

विगत अंकों में 'हमारा मस्तिष्क' स्तंभ के अन्तर्गत मानव-मस्तिष्क संबंधी कुछ प्रारंभिक बातों की जानकारी आपको कराई जा चुकी है। प्रस्तुत स्तंभ उसी के सिलसिले में दिया जा रहा है और अबसे इसी शीर्षक के अंतर्गत मनोविज्ञान संबंधी लेख प्रकाशित होंगे।

संसार के सबसे बड़े आश्चर्य मानव-मस्तिष्क के संबंध में पिछले अंकों में आपको कुछ-कुछ बताया जा चुका है। आपने यह भी पढ़ा कि किस प्रकार मस्तिष्क और उससे अभिन्न रूप से संबंधित वात-संस्थान की सहायता से मनुष्य का बाहरी आचरण नियंत्रित होता है। पावलोव के परीक्षण और वाटसन के सिद्धान्तों ने अवश्य ही आपके मन में कुतूहलपूर्ण आश्चर्य के साथ यह भी विचार पैदा किया होगा कि क्या मानव-मन का अन्तिम रूप यही है? क्या यह सच है कि हमारी सारी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ कुछ श्वेत, कुछ धूसर पदार्थ, कुछ छोटी, कुछ बड़ी नाड़ियों का ही खेल हैं?

बहुत दिनों पहले बहुत-कुछ इसी प्रकार के प्रश्न बहुत बड़े-बड़े दार्शनिकों के मन में भी उठे थे। हाँ, उतने धुँधले रूप में नहीं जितना कि हमारे आपके मन में हो रहा है। हमारे यहाँ के ऋषि-मुनियों ने भी इस प्रश्न पर बहुत-कुछ विचार किया और भिन्न-भिन्न दार्शनिक भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर पहुँचे।

यहाँ पर थोड़ा यह भी बता दूँ कि और-और नैसर्गिक विज्ञानों और मनोविज्ञान में क्या अन्तर है ताकि आप इस प्रश्न का पूर्ण रूप से महत्त्व समझ सकें। एक वैज्ञानिक के लिए यह कोई ज़रूरी नहीं कि आख़िर दुनिया ऐसी ही क्यों है, किसने इसे ऐसा किया आदि प्रश्नों पर वह ठहरा रहे। वह तो प्रकृति की चीज़ों को ज्यों-का-त्यों मानकर उनका अध्ययन करता है और परिणाम निकालता है। मनोवैज्ञानिक भी ऐसा ही करता है। जिस तरह भौतिक विज्ञान भौतिक क्रियाओं का अध्ययन करता है, रसायन-शास्त्र पदार्थों के संबंध में माथा-पच्ची करता है, उसी प्रकार मनोविज्ञान मन—चाहे फिर वह मानव-मन हो या पशु का मन—की गुत्थियाँ सुलझाने की कोशिश करता है। किन्तु पदार्थ-वैज्ञानिक अपने पदार्थों को हाथ से छू सकता है, आँखों से देख सकता है, नाक से सूँघ सकता है और इच्छानुसार अपनी प्रयोगशाला में उनके साथ खेल कर सकता है। लेकिन मन को न कोई स्पर्श कर सकता है, न उसे देखा जा सकता है और न सूँघकर ही कहा जा सकता है कि हाँ, यह देखो, यही मन-जैसा महक रहा है! जहाँ अन्य सब प्राकृतिक विज्ञान ज्ञानेन्द्रियों के ज़रिए अपनी वस्तुओं के संबंध में सीधे जान जाते हैं, वहाँ मनोविज्ञान को बाहरी आचरणों के द्वारा ही उसके पीछे काम करनेवाली किसी ऐसी वस्तु के विद्यमान होने की संभावना का अन्दाज़ा लगाना पड़ता है जिसकी ये बाहरी प्रतिक्रियाएँ हैं। और यही मौलिक अन्तर मनोविज्ञान और दूसरे विज्ञानों में हर जगह देखने में आता है।

जब कुत्ता भोंकता है तो उसके सारे शरीर की बाहरी क्रियाओं को हम देखते हैं, लेकिन उसकी आँखों को एक ख़ास तरफ़ देखते देखकर हम जान पाते हैं कि सामने से एक हाथी चला जा रहा है और उसी को लक्ष्य करके कुत्ता ऐसा आचरण कर रहा है। बिना बुद्धि पर ज़्यादा ज़ोर डाले ही हम समझ जाते हैं कि कुत्ते का ग़ुस्सा हाथी पर है। लेकिन अगर कोई हमसे पूछ बैठे—'अच्छा, कुत्ते में कौन-सी वस्तु क्रोधित है? क्या यह उसके मस्तिष्क का श्वेत पदार्थ है या है उसकी वह नाड़ी जो सुषुम्ना से होकर उसके स्वर-यंत्र तक जाती है? तो इसका जो उत्तर हम दे सकते हैं वह मात्र इतना है कि स्वयं कुत्ता क्रोधित है

हम हमेशा कहते हैं—हमारा हाथ, हमारा पैर, हमारी आँखें आदि। लेकिन अगर शरीर का एक-एक कण हमारा है तो यह 'हम'—इन सारी चीज़ों का स्वामी यह 'हम'—कौन-सा है? स्वत्वाधिकारी और उसकी चीज़ें अवश्य ही एक नहीं हैं। तो फिर इन दो चीज़ों में कैसा संबंध है, जिन्हें हम मन और शरीर कहते हैं?

यही प्रश्न डेकार्टे नामक दार्शनिक के दिमाग़ में भी उठा था और उसने यह सिद्धान्त तय किया कि मन और शरीर यद्यपि दो भिन्न वस्तुएँ हैं—एक 'पदार्थ' है और दूसरा 'न-पदार्थ' है, फिर भी दोनों में कुछ ऐसा संबंध है कि एक की क्रिया का सीधा असर दूसरे पर होता रहता है। और मन की शरीर पर तथा शरीर की मन पर ये क्रिया-प्रतिक्रियाएँ पिनियल नामक ग्रन्थि की मध्यस्थता से होती रहती हैं। इतने से सन्तुष्ट न होकर उसने यह भी कह दिया कि इस संबंध को क़ायम करनेवाला परमात्मा है। यह मन और शरीर का **आन्तरक्रियावादी** सिद्धान्त कहलाता है।



आन्तरक्रियावादी सिद्धान्त का प्रतिपादक डेकार्टे

किन्तु इस सिद्धान्त ने सबसे बड़ी मुश्किल जो पैदा की वह यह थी कि इससे आधुनिक विज्ञान के **शक्ति की नित्यता** के सिद्धान्त का एकबारगी उल्लंघन हो जाता है। शक्ति नित्य है, वह अपना रूप बदल सकती है, लेकिन नष्ट नहीं हो सकती। शरीर एक भौतिक वस्तु है, पदार्थ है। मन कोई भौतिक चीज़ नहीं। उसकी स्थिति के लिए स्थान और काल की आवश्यकता नहीं। वह **न-पदार्थ** है। फिर ये दो सर्वथा भिन्न चीज़ें किस प्रकार एक दूसरे पर असर डाल सकती हैं? अगर पदार्थ मन पर क्रिया करना चाहता है तो उसे मन ही हो जाना पड़ेगा, अर्थात् वह न-पदार्थ हो जायगा। किन्तु ऐसा होना असंभव है। ठीक उसी प्रकार मन को भी शरीर पर प्रभाव डालने के लिए शरीर हो जाना पड़ेगा, यानी पदार्थ बनना पड़ेगा। यह भी उतना ही असंभव है।

और यहाँ पर आकर आन्तरक्रियावादी सिद्धान्त का दिवाला निकल जाता है। फिर सवाल जहाँ का तहाँ रह जाता है—तो फिर मन और शरीर का आपस में क्या संबंध है?

इस प्रश्न का उत्तर हालैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक स्पिनोज़ा ने दिया। स्पिनोज़ा ने कहा—'विचित्र बात है! एक मामूली-सी बात डेकार्टे जैसे विद्वान् की समझ में नहीं आई! भई, आख़िर न-पदार्थ (मन) पदार्थ (शरीर) से टक्कर लेने क्यों जाने लगा? क्या ज़रूरत है कि ये दोनों आपस में एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया की झंझट में फँसने जायँ? डेकार्टे के जिस 'भगवान्' ने आन्तर-क्रिया की व्यवस्था की वह इतना मन्दबुद्धि नहीं था कि विद्वानों के प्रिय सिद्धान्त 'शक्ति की नित्यता' का उल्लंघन कराके उसे दुःख पहुँचाता। आदम को स्वर्ग से पृथ्वी पर भेजकर ही क्या उसने इस आदमी को कम तकलीफ़ दी थी! आपने दो घड़ियों को एक साथ चलते देखा होगा। अगर आपकी रिस्ट-वाच में सात बजकर पन्द्रह मिनट हो रहे हैं तो आपकी टाइम-पीस में भी ठीक सात बजकर पन्द्रह मिनट हुए हैं! तो क्या आप इससे यह कहना चाहते हैं कि चूँकि दोनों घड़ियाँ एक साथ, एक ही तरह से चल रही हैं इसलिए पहली घड़ी दूसरी पर और दूसरी पहली पर क्रिया-प्रतिक्रिया कर रही है?

यहाँ पर आपको स्पिनोज़ा के तर्क की सचाई माननी पड़ेगी और आप उत्तर देंगे—'नहीं'। इस पर स्पिनोज़ा समझाता है कि ठीक इस रिस्ट-वाच और उस टाइम-पीस

की तरह मन और शरीर भी एक दूसरे से उसी तरह भिन्न होते हुए भी एक दूसरे की तरह ही काम कर रहे हैं। जब मन ख़ुश होता है तो शरीर हँसता है, जब शरीर नशे में होता है तो पैर के लड़खड़ाने के साथ मन भी लड़खड़ाने लगता है। और जिस तरह दोनों घड़ियाँ एक दूसरे पर क्रिया नहीं कर रही हैं, उसी तरह ये दोनों भी अलग-अलग ही काम कर रहे हैं—लेकिन एक साथ, एक ही तरीक़े से, बिल्कुल समानान्तर। दोनों ही के डायल सात बजकर पन्द्रह मिनट दिखा रहे हैं।

इस मत ने मन और शरीर के **समानान्तरवाद** का नाम धारण किया। इसकी ख़ूबी यही है कि शक्ति की नित्यता के सिद्धान्त पर जो चोट पहुँचती थी वह साफ़ बच गई।

पर आपको भी कोई क्या कहे जो पूछ ही बैठे—'तो ये दोनों घड़ियाँ एक साथ क्यों काम करती हैं ?'

स्पिनोज़ा ने छूटते ही जवाब दिया—'क्योंकि घड़ीसाज़ ने दोनों को एक ही समय और एक ही तरह से काम करने के लिए व्यवस्थित कर दिया है। मन और शरीर की यह व्यवस्था परमात्मा ने आरंभ से ही कर दी है।'

क्या उम्दा जवाब है !

और बहुत दिनों तक बड़े-बड़े दार्शनिक भी इसी सिद्धान्त को ठीक मानते रहे। कुछेक विद्वानों ने अवश्य ही मौक़े-ब-मौक़े इसका खोखलापन देखा, फिर भी अभी तक ज़्यादातर लोग यहीं पर आकर चुप हो जाते हैं।



समानान्तरवाद का प्रतिपादक स्पिनोज़ा

अगर ग़ौर से देखिए तो आपको पता चलेगा कि कुत्ते का मन जब हाथी पर क्रोधित होता है तो उसका शरीर भोंकना और क्रोध के दूसरे आचरण करना शुरू करता है, और आप जब शराब पीते हैं (जिसकी आशा कुछ हद तक कम है !) तो आपका मन भी लड़खड़ाने लगता है। सिर्फ़ यही बातें सत्य हैं। मन शरीर पर असर करता है या दोनों एक दूसरे के समानान्तर दौड़ते हैं यह तो किसी तरह जाना ही नहीं जा सकता। मन शरीर पर क्रिया करता है यह अगर ग़लत है तो दोनों एक दूसरे के समानान्तर कार्य कर रहे हैं यह भी उससे कुछ अधिक सही नहीं। हाँ, अलबत्ता आपके एक प्रिय सिद्धान्त 'शक्ति की नित्यता' को यह हानि नहीं पहुँचाता, इसलिए आपको इससे कोई नाराज़ी नहीं हुई। अन्यथा स्पिनोज़ा का जो ईश्वर इतना शक्तिशाली है कि दोनों को एक दूसरे के समानान्तर व्यवस्थित कर सकता है तो डेकार्टे का ईश्वर इतना कमज़ोर नहीं जो अपनी ही बनाई हुई सृष्टि में अपनी ही बनाई हुई दो चीज़ों को एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करने को बाधित न कर सके, चाहे दोनों लाख एक दूसरे से भिन्न रहें, और चाहे शक्ति की नित्यता जैसे हज़ार सिद्धान्त इसके नीचे कुचलते रहें !

और फिर हम लौटकर उसी प्रश्न पर पहुँच जाते हैं—तो आख़िर मन और शरीर में आपसी संबंध क्या है ?

उत्तर में हमारे देश के एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक डा० गिरीन्द्रशेखर बोस ने कहा—'आदमी का मन सर्वदा उत्सुक है। और वह जानकर ही रहेगा। अगर हमारे अन्दर यह प्रवृत्ति नहीं होती तो ज्ञान-विज्ञान का कहीं नामोनिशान भी नहीं रहता। और न वायुयान जैसी भारी चीज़ आकाश-मार्ग से एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करती।'

उन्होंने यह दलील दी कि साढ़े बाइस आउन्स की सफ़ेद चमचमाती बोतल में बन्द लाल-लाल 'जौनी वाकर' का एक पेग मिस्टर हेग शॉ के पेट में पहुँचकर यकृत् और रक्त से होकर जब मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों में पहुँच जाता है तो उनके पैर कुछ हल्के हो जाते हैं, आँखों में सुर्ख़ी छा जाती है, ज़बान कुछ उखड़ी-उखड़ी हो जाती है, आवाज़ फट जाती है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर बोलते हुए रूज़वेल्ट का घर 'इन्डिया' बताकर वह 'डैम इट' में वाक्य समाप्त कर देते हैं ! और सुबह उठकर ठंडे पानी से स्नान करके मिस्टर शॉ सोचते हैं—यानी उनका मन कहता है कि अब ड्रेस करके ज़रा उनसे क्षमा माँगता आऊँ जिन्हें रात दो-ढाई घंटे तक ऊलजलूल भाषण सुनाता रहा तो उनके पैर स्वयं उन्हें ड्रेसिंग टेबुल के पास ले जाते हैं और उनका दाहिना हाथ ब्रुश उठाकर उनके सर की ओर ले जाता है !

मन ने शरीर-सा काम किया, बदले में शरीर ने भी मन की आज्ञा मान ली। यह कैसे हुआ ?

बोस का सिद्धान्त है कि हर पदार्थ के दो पहलू हैं,

एक भौतिक, दूसरा मानसिक। जब एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु पर कार्य करती है तो उसका भौतिक पहलू दूसरी के भौतिक पहलू और उसका मानसिक पहलू दूसरी के मानसिक पहलू पर क्रिया करता है।

इस सिद्धान्त का नाम उन्होंने **सर्व-मना-सहचारवाद** दिया है। अंग्रेज़ी में इसका नाम इतना बड़ा है कि वह स्वयं एक आश्चर्य की चीज़ है, इसलिए उसका उल्लेख करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। वह है Pan-psychic-psycho-physical-parallelism। इसका हिन्दी अनुवाद होगा—"सर्व-मना-मनोशारीरिक-सहचारवाद (या समानान्तरवाद)"!

ऊपरवाले उदाहरण में शराब के अन्दर दो पहलुओं का होना माना गया है। जब मिस्टर शॉ शराब को गले के नीचे उतारते हैं तो उसका भौतिक पहलू शॉ के शरीर पर असर करता है, और उनके पैर लड़खड़ाना आदि उनके शारीरिक आचरण होते हैं। और उसका मानसिक पहलू नशे के रूप में उनके मन पर असर करता है और उनकी विचार-बुद्धि को भ्रष्ट करता है, तथा ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और नियंत्रणशक्ति की सारी शृंखला ही बिखेर देता है।

इस सिद्धान्त का महत्त्व केवल इतना है कि यह साधारण मनोशारीरिक-सहचारवाद से एक क़दम आगे बढ़कर सहचारवाद को तो मानता है, लेकिन अपने अन्दर प्रच्छन्न रूप में आन्तरक्रियावाद के सिद्धान्त को भी थोड़ा प्रश्रय देता है। सच पूछिए तो यह भी कोई ख़ास दूर तक हमें कहीं नहीं ले जाता और इसका वास्तविक मूल्य केवल यही है कि और-और बहुत-से ऐसे सिद्धान्तों की तरह, जिनकी परीक्षा सीधे तौर पर ज्ञानेन्द्रियों अथवा माप-यन्त्रों के द्वारा नहीं की जा सकती, यह भी एक सिद्धान्त है और इसमें कल्पना कुछ और भी आगे तक बढ़ी हुई है।

इसी की तरह कल्पनापूर्ण एक और भी सिद्धान्त है जो मैं अपने दोस्तों को एक दिन बता रहा था। ऊपर की सामग्री ने अवश्य ही आपके भीतर यह भाव पैदा किया होगा कि जब यह सारी बात निरर्थक है तो यह बहस ही क्यों उठाई जाय! मैंने इसका जवाब ऊपर दे दिया है, अर्थात् मानव-बुद्धि की अत्यधिक उत्सुकता। तो मैंने यह सिद्धान्त दिया है कि आप चाहे हज़ार बार शक्ति की नित्यता को ठीक मानते रहें, और बार-बार परीक्षणों द्वारा इसकी सत्यता सिद्ध करते रहें, फिर भी यह सिर्फ़ एक सिद्धान्त है जो आपकी उस दुनिया में लागू है, जिसे आप नैसर्गिक रूप में देख रहे हैं। हो सकता है, नैसर्गिकोत्तर दुनिया में यह नहीं खट सके! यह तो हमारे ऊपर के झगड़े से ही साबित है। संभव है कि मन शरीर पर और शरीर मन पर सच ही सीधे-सीधे क्रिया-प्रतिक्रिया करते हों। कम-से-कम इन सारी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का बाह्य प्रतिरूप हम हरदम देख रहे हैं। मन का प्रभाव शरीर पर और शरीर का मन पर बराबर हो रहा है। लेकिन अगर आपको शक्ति की नित्यतावाला सिद्धान्त ऐसा ही प्रिय है तो आप मन को भी एक भौतिक पदार्थ क्यों नहीं मान सकते? अगर ईथर का होना सत्य कहकर माना जा सकता है तो यह भी कोई उतना बुरा नहीं। यह आश्चर्य हर आदमी रोज़ देखता है कि हर तरह से निर्जीव भोजन जो हम लोग खाते हैं वह शरीर के अन्दर जाकर सजीव बन जाता है। शायद युधिष्ठिर ने कुछ अधिक दिमाग़ से काम लिया होता तो इसी पर 'किम् आश्चर्यमतः परम्' कहा होता और यक्ष भी सन्तुष्ट हो जाता! यदि यह संभव है तो मन को भी पदार्थ मान लेना कोई वैसा आश्चर्यजनक नहीं। बहुत-सी ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें हम किसी तरह नंगी आँखों से नहीं देख सकते, उन्हें ख़ुर्दबीन से देख लेते हैं, और उससे भी अधिक शक्तिशाली ख़ुर्दबीन से और भी बहुत-सी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चीज़ें देखते हैं। अभी तक किसी ने इतना शक्तिशाली अणुवीक्षण यंत्र नहीं बनाया कि मन को देखा जा सके, वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है और उससे भी सूक्ष्मतम है। लेकिन मान लीजिए कि वह भी पदार्थ ही है, ठीक उसी तरह जिस तरह आपका शरीर एक भौतिक पदार्थ है। और तब आप बख़ुशी कह सकते हैं कि मन और शरीर का आपसी संबंध आन्तरक्रियावादी है। मैंने इस सिद्धान्त का कोई नाम नहीं दिया है, इसलिए कि पहले ही से इस क्षेत्र में नामों की कमी नहीं और इसलिए भी कि लोग मेरे नाम से इसे याद न करने लग जायँ कहीं!

इतना जान लेना अत्यंत आवश्यक था, इसके पहले कि आप मनोविज्ञान को समझने के लिए आगे बढ़ सकें। क्योंकि अगर मन और शरीर के आपसी संबंध को अच्छी तरह समझे बिना आप आगे बढ़ने की कोशिश करेंगे तो शायद सब समाप्त करने पर भी आपके लिए यही कहावत लागू हो कि सारी रामायण समाप्त कर जाने पर भी आप नहीं जानते कि सीता कौन थी!

मानव समाज

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, आर्थिक स्वदेशहित तथा औद्योगिक संरक्षण की नीति

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आज की अधिकांश अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याएँ शक्तिशाली देशों की स्वार्थमूलक व्यापार-नीति की ही उपज हैं। बल्कि यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि आजकल जो भीषण युद्ध-ज्वाला संसार में धधक रही है उसका भी प्रधान कारण यह स्वहितमूलक व्यापार-नीति ही है। आइए, इस लेख में आपको संक्षेप में बतलाएँ कि भिन्न-भिन्न देश इस नीति को सफल बनाने के लिए किस प्रकार पैंतरे बदलते हैं।

पिछले दो लेखों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रारम्भकाल तथा विस्तार की कहानी आपको सुनाई जा चुकी है। इस सम्बन्ध में निर्वाधित व्यापार मत के प्रचार, पालन, विरोध तथा उसके खण्डन का इतिहास भी बतलाया गया था। निर्वाधित व्यापार मत को अपनाने अथवा उसका विरोध करने का वास्तविक कारण अपने-अपने देश की आर्थिक उन्नति अथवा आर्थिक स्वदेशहित की चेष्टा थी। परन्तु आर्थिक स्वदेशहित मत का प्रचार अथवा निर्वाधित व्यापार मत का विरोध ही किसी देश की आर्थिक उन्नति करने के लिए पर्याप्त नहीं था। आर्थिक स्वदेशहित की नीति को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक था कि विदेशी व्यापार को रोकने के साथ-साथ अपने देश की कला, उद्योग तथा व्यापार की उन्नति की सुसंगठित योजना तैयार की जाय और उसको सफलीभूत बनाने की पूर्ण चेष्टा की जाय। इस क्रम को पूर्ण रूप से समझने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी आर्थिक स्वदेशहित नीति के दो पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है। इनमें पहला है अन्य देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को घटाने और स्वदेश में विदेशी माल को रोकने का प्रयत्न करना अथवा स्वदेशी उद्योग-धन्धों की विदेशी माल से रक्षा के उपाय करना और दूसरा है स्वदेशी धन्धों और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को विस्तीर्ण बनाने के उपाय करना। स्वदेशी उद्योग-धन्धों के संरक्षण तथा उन्नति की नीति और क्रम भिन्न-भिन्न देशों में वहाँ की परिस्थिति तथा उनकी समस्याओं के अनुसार समय-समय पर बदलते रहे हैं। उद्योग-संरक्षण के महान् प्रयत्न में पारस्परिक समझौता, बहिष्कार, तथा राष्ट्रीय निषेध इत्यादि सभी उपायों का सहारा लिया गया है। इसके साथ-साथ उद्योग की उन्नति के लिए प्रचार, राष्ट्रीय सहायता, पदार्थ-मूल्य-निर्णय, व्यापारिक सुविधाएँ तथा सिक्के के दर के घटाने-बढ़ाने इत्यादि का भी अवलम्ब लिया गया है। आइए, संक्षेप में इन पर विचार करें।

संरक्षण-कर अथवा आयात-कर

विदेशी पदार्थों के आयात को कम करने अथवा बन्द करने के लिए सबसे सरल उपाय के रूप में संरक्षण-कर अथवा आयात-कर का प्रयोग किया गया। स्वदेशी पदार्थों के बिक्री-दर और विदेशी पदार्थों के आयात-मूल्य-दर के अन्तर के बराबर पदार्थों पर आयात-कर लगाया जाता था। इसमें प्रयोजन यह था कि विदेशी पदार्थ देश में सस्ते मूल्य पर न बिक सकें। विदेशी पदार्थों को आयात-कर द्वारा स्वदेशी पदार्थों की अपेक्षा महँगा बना दिया जाता था और इस प्रकार राष्ट्रनीति के सहारे उन विदेशी पदार्थों का आयात बन्द हो जाता था। इस नीति का पालन उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में जर्मनी, संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) तथा फ्रांस में हुआ।

इस नीति के पालन में कभी-कभी दो राष्ट्रों में अनबन

तथा पारस्परिक व्यापारिक द्वन्द्व भी छिड़ जाता था। कारण यह था कि जब एक देश के पदार्थों के निर्यात अथवा बिक्री पर दूसरे देश में कर द्वारा रुकावट डाली जाती थी तो पदार्थ भेजनेवाले देश के व्यापार को उस सीमा तक हानि अवश्य होती थी और फिर वह राष्ट्र अपने व्यापार तथा उद्योग को बनाए रखने के लिए नाना प्रकार के उपायों का सहारा लेने के लिए विवश हो जाता था। यदि निषेध लगानेवाले देश से अन्य पदार्थ निर्यात करनेवाले देश में जाते हैं तो अवश्य ही वह देश प्रतिरोधस्वरूप उस देश के निर्यात को अपने देश में रोक देगा। इसका उदाहरण भारतवर्ष के कपड़े के व्यापार के इतिहास में मिल सकता है। जब भारतीय धारासभा ने ओटावा पैक्ट (Ottawa Pact) के अनुसार जापानी कपड़े पर अँगरेज़ी कपड़े की अपेक्षा अधिक कर लगाना निश्चय किया ता जापानी राष्ट्र ने तुरन्त ही जापान में भारतवर्ष की रुई के आयात की मनाही की धमकी दी थी। केवल इतना ही नहीं वरन् साल भर के अन्दर जापान ने भारत से रुई न लेने के विचार को कार्यरूप में भी परिणत कर दिखाया था। इस प्रकार के व्यापारिक प्रतिरोध के अनेकानेक उदाहरण संसार के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में मिल सकते हैं। यदि ऐसे प्रतिरोधों का अन्त पारस्परिक समझौते से हुआ तो नवीन समझौते के अनुसार पुनः शान्तिमय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों देशों में चलने लगता है। सन् १६३४ में जापान के प्रतिकार के पश्चात् भारत तथा जापानी राष्ट्र में इसी प्रकार का एक समझौता हो गया था, जिसको 'भारत-जापान व्यापारिक-समझौता' (Indo-Japanese Trade Agreement) कहते हैं। इस समझौते के द्वारा दोनों देशों में पदार्थों के आयात-निर्यात की मात्रा निश्चित कर ली गई थी, जिससे उद्योग तथा उत्पादन-शक्ति का ह्रास भी न हो और आवश्यक आयात भी हो सके। पारस्परिक समझौते द्वारा इस प्रकार दो देशों का व्यापारिक द्वन्द्व नहीं हो पाता, लेकिन यदि समझौता न हुआ तो अन्य उपायों तथा प्रतिकारों द्वारा एक देश दूसरे देश को अपनी नीति बदलने के लिए विवश कर देता है।

मुद्रा-विनिमय-दर

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-क्षेत्र में आयात-निर्यात-कर से अधिक महत्त्ववाली शक्ति सिक्के के मूल्य का दर होती है। इसके द्वारा भी आयात को रोक सकते हैं और निर्यात की वृद्धि कर सकते हैं, अथवा आयात-कर को निरर्थक बना सकते हैं। सिक्के के विनिमय-दर के सम्बन्ध में दो बातों का जानना बहुत आवश्यक है। प्रथम यह कि दोनों देश एक ही धातु के सिक्के काम में लाते हैं अथवा नहीं। उदाहरणार्थ क्या दोनों देशों में सोने का सिक्का ही प्रमाणित सिक्का है जैसे फ्रांस और अमेरिका में, अथवा दोनों में चाँदी का सिक्का ही प्रमाणित तथा सर्वमान्य सिक्का है, जैसे भारत, चीन अथवा जापान में? यदि दोनों देशों में सिक्के एक ही धातु के हों तब तो सिक्के का विनिमय-दर दोनों सिक्कों की धातु-मात्रा के अनुसार होगा, जैसा कि फ्रांस के फ्रेन्क और अमेरिका के डॉलर का विनिमय-दर फ्रेन्क-डॉलर में सोने की मात्रा के अनुकूल होता है। इसी प्रकार शुद्ध चाँदी के दो सिक्कों का भी विनिमय-दर निश्चय हो सकता है। इस प्रकार के सरल विनिमय में यह मान लिया जाता है कि दोनों राष्ट्र अपने सिक्के तथा बहुमूल्य धातु के आयात-निर्यात पर कोई निषेध नहीं लगाएँगे। ताकि यदि किसी कारण से सिक्के का धातु-विनिमय-दर घट जाय अथवा बढ़ जाय तो सिक्के के स्थान पर धातु भेज दी जाय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का हिसाब चुका दिया जाय। परन्तु सिक्का-विनिमय-दर का प्रश्न उस समय जटिल हो जाता है जब दो देश भिन्न-भिन्न धातु के सिक्के व्यवहार में लाते हैं। यदि दोनों सिक्के शुद्ध धातु के हों तब तो धातु-मूल्य-दर के अनुसार एक सिक्के का धातु-मूल्य दूसरे सिक्के के धातु-मूल्य के आधार पर लगाया जा सकता है। परन्तु वास्तविक संकट यह है कि कुछ देशों के सिक्के शुद्ध धातु के नहीं होते वरन् बहुमूल्य धातु में सस्ती धातु को मिलाकर बनाए जाते हैं, और उनका व्यावहारिक मूल्य राष्ट्र द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। भारतवर्ष का 'रुपया' इसका जीता-जागता उदाहरण है। इस रुपए में पूरे एक तोला (रुपये का भार) चाँदी नहीं होती। उसमें अन्य सस्ती धातुएँ मिश्रित होती हैं। यदि इस रुपए का धातु-मूल्य लगाया जाय तो सरकारी विनिमय-दर से कहीं कम होगा। ऐसी अवस्था में विनिमय-दर राष्ट्र द्वारा निश्चित कर दिया जाता है और धातु-मूल्य का प्रभाव बहुत अंश तक शिथिल हो जाता है। यह भी कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से इस प्रकार के सिक्के नितान्त व्यर्थ हैं। उनका चलन केवल देश के अन्दर ही हो सकता है, जहाँ राष्ट्र की आज्ञा जनता को सिक्का निश्चित दर पर लेने के लिए बाध्य कर सकती है। भारतवर्ष में ठीक यही दशा है। यहाँ के रुपए का मूल्य

इँगलैंड के स्टर्लिङ्ग के एक शिलिङ्ग छः पेन्स के बराबर राष्ट्र द्वारा निश्चित कर दिया गया है। इस प्रकार देश के सिक्के का दर घटाने से देश के बने हुए माल का मूल्य अन्य देश के सिक्कों की तुलना में कम हो जाता है और विदेश के बने हुए माल का मूल्य अपने देश के सिक्के की तुलना में बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए यों समझ सकते हैं कि जब रुपए के दर को एक शिलिंग चार पेन्स से बढ़ाकर एक शिलिंग छः पेन्स कर दिया गया तो अँगरेज़ी माल प्रति रुपया दो पेन्स सस्ता हो गया। पहले यदि हमें एक शिलिंग चार पेन्स मूल्य के माल के बदले एक रुपया देना पड़ता था तो अब वही एक रुपया एक शिलिंग छः पेन्स के मूल्य का माल ख़रीदने में लगा। यदि सिक्के का दर बढ़ाने के बदले घटा दिया जाय अर्थात् एक शिलिंग चार पेन्स के बदले एक शिलिंग दो पेन्स कर दिया जाय तो विदेशी माल भारतवर्ष में दो पेन्स प्रति रुपया महँगा हो जायगा। विदेशी माल के सस्ता होने से यहाँ उस माल की बिक्री देशी माल की अपेक्षा बढ़ जाती है, क्योंकि व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता में विदेशी माल अब सस्ता हो जाता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न देश व्यापार-वृद्धि के लिए दूसरे देशों के सिक्कों का विनिमय-मूल्य बढ़ा देते हैं। ठीक यही घटना सन् १९३० के व्यापारिक संकट के समय घटी थी। फ्रान्स, जर्मनी, इटली, इँगलैंड, जापान और संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) में अपने सिक्के के अन्तर्राष्ट्रीय दर घटाने की ऐसी प्रतिद्वन्द्विता चली थी और उसकी सीमा यहाँ तक बढ़ी थी कि जापान ने भारतवर्ष के रुपए के पिछले विनिमय-दर की अपेक्षा अपने येन का विनिमय-दर ७५ प्रतिशत घटा दिया था। फलतः जापानी माल भारतवर्ष में बहुत सस्ता हो गया था और बम्बई तथा अहमदाबाद की रुई की मिलों की दशा बहुत संकटपूर्ण हो गई थी। सारांश यह कि विदेशी माल के आयात को रोकने के लिए प्रायः राष्ट्र अपने सिक्के के दर को घटा देते हैं।

'क्रय-शक्ति की समता'

यहाँ पर यह बात समझ लेने की है कि आयात-कर अथवा सिक्के का विनिमय-दर देश के व्यापार को केवल अल्पसामयिक सहायता दे सकते हैं और कुछ समय के बाद उनका लाभदायक प्रभाव नष्ट हो जाता है। इस क्रम को निम्न प्रकार से समझ सकते हैं। आयात-कर अथवा सिक्के का दर विदेशी माल को मँहगा बना देता है, जिसका प्रभाव यह होता है कि देश में कर लगाए हुए पदार्थों का मूल्य स्वभावतः बढ़ जाता है, जिससे रहन-सहन का ख़र्च बढ़ जाता है। रहन-सहन का ख़र्च बढ़ने से कारख़ानों के मज़दूरों की मज़दूरी बढ़ानी पड़ती है। फिर एक प्रकार के पदार्थ के मूल्य के बढ़ाने से अन्य पदार्थों का मूल्य भी बढ़ जाता है। सिक्के के दर के घटने से विदेशी मशीन, कच्चा माल, उत्पादन-पदार्थ इत्यादि का भी मूल्य बढ़ जाता है और क्रमशः इन कारणों से देशी पदार्थों का मूल्य पुनः विदेशी पदार्थों के मूल्य के बराबर हो जाता है और आयात-कर अथवा सिक्के के दर से सहायता लेना फिर आवश्यक हो जाता है।

निर्बाधित व्यापार के अन्तर्गत यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को केवल आर्थिक प्रवृत्तियों पर छोड़ दिया जाय तो भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अपनी स्वाभाविक आर्थिक वृत्ति के अनुसार चलने लगता है और अल्पकालिक असाधारण वृत्तियाँ आर्थिक चक्र द्वारा पुनः पूर्वस्थिति को प्राप्त हो जाती हैं। इस तर्क को सरल भाषा में यों समझ सकते हैं कि यदि किसी देश में पदार्थ का मूल्य अधिक होने से आयात बढ़ जाय (क्योंकि ऐसी आर्थिक दशा में विदेशी व्यापारी को ऐसे देश में पदार्थ बेचने में अधिक लाभ होगा) तो इस प्रवृत्ति का प्रतिफल यह भी होगा कि उस देश का निर्यात घट जाएगा। पदार्थ-मूल्य बढ़ने के कई कारण हो सकते हैं। एक बहुत साधारण कारण तो यह है कि यदि देश में चलित मुद्रा की संख्या आवश्यकता से अधिक हो जाय तो पदार्थ-मूल्य मुद्रा के विनिमय में बढ़ जाता है। ऐसी आर्थिक अवस्था में दो प्रवृत्तियाँ अवश्य प्रबल होंगी। पहली तो यह कि विदेशी पदार्थ बड़ी संख्या में आ जाने से सम्पूर्ण पदार्थों की संख्या देश की आवश्यकता से बढ़ जायगी और व्यापार के साधारण नियमानुसार ऐसी अवस्था में पदार्थ का मूल्य गिरने लगेगा और दूसरे देशों को निर्यात में अधिक लाभ न होगा। दूसरे यह कि आयात बढ़ने से देश का धन अधिक लग जाएगा और इसलिए चलित मुद्रा की संख्या घट जाएगी और इसका भी प्रभाव यही होगा कि पदार्थ-मूल्य घट जाएगा। कभी-कभी आयात तथा निर्यात के मूल्यस्वरूप धन बाहर जाने और आने का प्रभाव बैंक-दर के द्वारा भी प्रकट हो जाता है। इसको यों समझ सकते हैं कि आयात बढ़ने से और उसके फलस्वरूप रुपया बाहर जाने से उसकी संख्या कम हो जाती है और बैंक का सूद-दर बढ़

जाता है। बैंक का सूद-दर बढ़ने से विदेशी व्यापारियों को इस देश के बैंकों में रुपया रखने से अधिक लाभ होता है और इस प्रकार विदेश का धन इस देश में थाती के रूप में आने लगता है। रुपए की संख्या बढ़ने से बैंक-दर फिर गिर जाता है और पदार्थ-मूल्य बढ़ जाता है। ठीक ऐसा ही निर्यात के बढ़ने से होता है। इस प्रकार इन आर्थिक प्रवृत्तियों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-क्षेत्र में समता स्थापित रहती है। इसी आर्थिक व्यापार-चक्र को 'पदार्थ मोल लेने के सामर्थ्य अथवा क्रय-शक्ति की समता' (Purchasing Power Parity) कहते हैं। इस स्वाभाविक आर्थिक गति के कार्य को राष्ट्र द्वारा सिक्के के निश्चित दर अथवा आयात-कर द्वारा रोक दिया जाता है, जिससे लाभ पहुँचानेवाली परिस्थितियों का शीघ्र ही ह्रास न हो और देश निरन्तर व्यापार-लाभ उठाता रहे। इस प्रकार एक प्रतिबन्ध के लगाने पर राष्ट्र को अन्य प्रतिबन्धों द्वारा उसका प्रभाव स्थायी बनाना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त आयात-कर का प्रभाव देश के आर्थिक संगठन पर भी पड़ता है। कहीं-कहीं सर्वशक्तिमान एकाकी व्यापारिक संस्थाएँ स्थापित हो जाती हैं जो राष्ट्र की संरक्षण-नीति का सहारा लेते हुए जन-साधारण से अधिक मूल्य लेकर निजी लाभ बढ़ाती हैं। अमेरिका में इस प्रकार के प्रभाव का महत्त्व भली भाँति देखा जा चुका है और फिर इन शक्तिशाली संस्थाओं को नियम-बद्ध करने के लिए राष्ट्र को अनेक संकटों का सामना करना पड़ा है। अमेरिका के बड़े-बड़े ट्रस्ट बृहत् औद्योगिक संगठन की इसी नीति के फल हैं।

विदेशी आयात-निषेध

देश को इस प्रकार की अल्पसहायक नीति से छुटकारा देने और विदेशी व्यापार को रोकने के लिए कभी-कभी विदेशी आयात-निषेध (Prohibition) की नीति से भी काम लिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह उपाय बहुत सीधा तथा सरल है, परन्तु इसमें दो देशों में वैमनस्य बढ़ने की बहुत सम्भावना रहती है और इसीलिए एकदम निषेध की घोषणा करने की अपेक्षा राष्ट्र विदेशी व्यापार के मार्ग में संकट उपस्थित करने की नीति का पालन करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। विदेशी व्यापार को रोकने की जिन चेष्टाओं का उल्लेख ऊपर किया गया है वे सब राष्ट्राधीन हैं। परन्तु कहीं-कहीं राष्ट्र इस प्रकार के कार्य करने को प्रस्तुत नहीं होता और राष्ट्र के उदासीन होने पर भी देश की जनता विदेशी व्यापार को रोकने तथा देशी व्यापार की वृद्धि करने की चेष्टा करती है। ऐसी अवस्था में जनता की ओर से देशी पदार्थों के प्रचार के लिए संस्थाएँ स्थापित की जाती हैं, जो सर्वसाधारण और व्यापारियों को विदेशी व्यापार की वृद्धि की हानि बतलाती हैं और लोगों को तर्क तथा प्रार्थना द्वारा विदेशी पदार्थ न मोल लेने के लिए उत्तेजित करती हैं। कभी-कभी इस प्रकार का आन्दोलन देश-व्यापी रूप धारण करता है और केवल प्रार्थना पर ही सन्तुष्ट न रहकर विदेशी पदार्थ की बिक्री पर धरना भी लगाया जाता है, जिसके द्वारा ग्राहक को लाचार किया जाता है कि वह विदेशी माल मोल न ले। कुछ देशों में राष्ट्र के श्रमजीवी दल से अनुरोध किया जाता है कि वह विदेशी व्यापार को रोकने के लिए उसको जहाज़ से उतारने, रेल पर ले जाने एवं शहरों और दूकानों तक पहुँचाने में योग न दे। भारतवर्ष के व्यापारिक जीवन में गत २० वर्ष में इस प्रकार की घटनाएँ घटी हैं। जिन देशों में राष्ट्र तथा जनता में सहयोग होता है वहाँ दोनों प्रकार की चेष्टाएँ मिलकर कार्य को बहुत शीघ्र सफल बनाती हैं।

विदेशी व्यापार को रोकने के चित्र का यह केवल एक पट है। परन्तु वास्तव में विदेशी व्यापार को रोककर देशी व्यापार की वृद्धि तभी हो सकती है जब विदेशी माल की रुकावट के साथ-साथ देशी माल का उत्पादन बढ़े। यही नहीं, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-क्षेत्र में वह आपेक्षिक मूल्य पर हाथोंहाथ बिक भी सके। इसलिए चित्र के दूसरे पट पर राष्ट्र के उन प्रयत्नों का उल्लेख है जिनके द्वारा देशी उत्पादन तथा व्यापार की उन्नति होती है। आइए, अब आपको इस दूसरे पहलू का दिग्दर्शन कराएँ।

उद्योग-धंधों की उन्नति में राष्ट्रीय सहायता

विदेशी पदार्थ का आयात पूर्णतया तब ही बंद हो सकता है जब निषेध के साथ-साथ देशी पदार्थ इतनी संख्या में बनें कि देश की माँग पूरी हो सके। संख्या से अधिक महत्वपूर्ण बात पदार्थ-उत्पादन का मूल्य है। यदि देशी पदार्थ का मूल्य सदैव विदेशी पदार्थों की अपेक्षा अधिक रहा तो आयात-कर हमेशा के लिए लगाना पड़ेगा और ग्राहकों को अधिक पैसा देना पड़ेगा। ऐसी अवस्था सदा के लिए कदापि नहीं चल सकती। इसलिए पदार्थ-उत्पादन सस्ता भी होना चाहिए। उद्योग-वृद्धि के दो प्रमुख अंग होते हैं—एक तो उत्पादन का बड़ी संख्या में होना और दूसरा पदार्थ-उत्पादन-कला

की उन्नति एवं पदार्थ-उत्पादन-मूल्य की कमी। उत्पादन की मात्रा बढ़ाने के लिए पुराने कारख़ानों से भरपूर काम लेने और नए कारख़ाने खोलने की आयोजना करनी पड़ती है। इसके लिए बहुत धन की आवश्यकता होती है। कच्चे माल की पैदावार बढ़ाना आवश्यक हो जाता है और उसे खेतों से कारख़ानों तक लाने का सुप्रबन्ध करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में राष्ट्र इन उद्योगों की धन से सहायता करता है। इस आर्थिक सहायता के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। कहीं राष्ट्र ऐसे कारख़ानों को सहायतार्थ धन का दान कर देता है। कभी थोड़े सूद अथवा बग़ैर सूद के धन उधार दे देता है और कई वर्ष बाद लाभ होने पर उसे वापस ले लेता है। उदाहरणार्थ भारत-सरकार टाटा कम्पनी के लोहे के कारख़ाने को ५० लाख रुपया प्रति वर्ष की आर्थिक सहायता देती रही है। नए उद्योगों को चलाने के लिए प्रान्तीय सरकारें भी धन की सहायता देती रही हैं। कभी-कभी तो राष्ट्र ऐसे उद्योगों को अपने ही धन से और अपने अधीन भी चलाते हैं। जनता को ऐसे उद्योगों को चलाने के लिए प्रोत्साहनस्वरूप राष्ट्र अनेक सुविधाएँ देते तथा कच्चे माल की कृषि बढ़ाने के लिए प्रचार भी किया जाता है। उसकी पैदावार पर राष्ट्रीय कर बिल्कुल नहीं लिया जाता अथवा कम लिया जाता है। कभी-कभी कच्चे माल का आयात भी बढ़ाया जाता और अन्य राष्ट्रों से कच्चा माल मोल भी लिया जाता है। कच्चे माल को खेतों से कारख़ानों तक पहुँचाने के लिए राष्ट्र नई-नई सड़कें तथा रेलें बनाता है, जिससे कच्चा माल शीघ्र और कम भाड़े पर कारख़ानों तक पहुँच सके। उत्पादन को सस्ता और अच्छा बनाने के लिए राष्ट्र अनुसंधानशालाएँ (Research Bureau) स्थापित करता है, जहाँ देश के विज्ञानाचार्य उद्योग-सम्बन्धी बातों पर नए-नए अन्वेषण करते हैं, जिससे उत्पादन का कार्य अच्छी तरह और कम ख़र्च में हो सके। हमारे देश में शक्कर बनाने के उद्योग के लिए कोयम्बटूर और कानपुर में ऐसे अनुसंधानगृह बनाए गए है, जिनके द्वारा शक्कर बनाने की अच्छी रीति पर विचार किया जाता है और फिर उनका निश्चय सारे कारख़ानों को सूचित किया जाता है। इसी प्रकार अन्य उद्योगों के लिए भी संस्थाएँ बनाई जाती हैं, जो उद्योग-संलग्न देशवासियों को सलाह दिया करती हैं। कभी-कभी पदार्थ को बनाने के लिए किन-किन कच्चे माल से सहायता ली जा सकती है इस पर भी विचार किया जाता है। अगर देश में एक प्रकार का कच्चा माल पैदा नहीं होता तो यह विचार किया जाता है कि देश में होनेवाला अन्य कौन-सा कच्चा माल है जिससे काम लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए काग़ज़ बनाने के उद्योग में घास, सन, बाँस, गन्ने की खोई, पुराना कपड़ा, इत्यादि सभी से आवश्यकता तथा मूल्य के अनुसार काम लिया गया है। इस प्रकार की औद्योगिक उन्नति का श्रेय रसायनशास्त्र के विद्वानों को अधिक है। सारांश यह है कि उद्योग को जीवित रखने तथा फलने-फूलने के लिए राष्ट्र विविध प्रकार की सहायता की आयोजना करता है। व्यक्तिगत व्यापारियों की सामर्थ्य के बाहर की बात है कि वे इस प्रकार के अन्वेषण का प्रबन्ध कर सकें, क्योंकि इसमें बहुत धन तथा प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। संसार के उद्योग-धन्धों की वृद्धि आजकल मुख्यतः ऐसी ही खोजों पर निर्भर करती है।

उत्पादन-मूल्य के घटाव के लिए अनुचित उपायों का प्रयोग

कभी-कभी व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता का सामना करने के लिए उत्पादन-मूल्य को कम करने में अनुचित उपायों का भी प्रयोग किया जाता है। जहाँ पूँजीपतियों का प्रभाव राष्ट्र पर अधिक है अथवा राष्ट्र औद्योगिक प्रश्नों को पूँजीपति और श्रमजीवियों का घरेलू झगड़ा समझकर हस्तक्षेप नहीं करता, वहाँ पूँजीपति श्रमजीवियों का वेतन कम करके, उनसे कारख़ानों में उसी वेतन पर अधिक घण्टे काम लेकर, तथा कम आयुवाले बच्चों और स्त्रियों को थोड़े वेतन पर कारख़ानों में नौकर रखकर अथवा अन्य निन्दनीय उपायों से उत्पादन-मूल्य घटाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता का सामना करते हुए अपने लाभ को बनाए रखते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत-से देशों में इस प्रकार के कष्ट देकर श्रमजीवियों से कारख़ानों में काम लेना बन्द-सा हो गया है। और रूस में, जहाँ पूँजीपति रह ही नहीं गए हैं, यह प्रश्न उठता ही नहीं। इङ्गलैंड में भी समाजवादियों के प्रभाव से बहुत बड़ी रुकावट है। अमेरिका में राष्ट्र के हस्तक्षेप द्वारा श्रमजीवी कानून (Labour Code) के अनुसार ही पूँजीपति कार्य कर सकते हैं। जर्मनी और जापान में ऐसे नियम तो नहीं हैं पर अभी तक वहाँ इन निन्दनीय उपायों का सहारा नहीं लिया गया है, क्योंकि वहाँ राष्ट्र उद्योग की दूसरी प्रकार से सहायता करता है। भारतवर्ष में इस प्रकार के श्रमजीवी रक्षा के नियम अभी उतने अच्छे नहीं हैं जितने कि दूसरे देशों में हैं, फिर भी फैक्टरी क़ानून तथा औद्योगिक

कारख़ानों सम्बन्धी अन्य राष्ट्र-नियमों के कारण एवं मज़दूर-दल तथा अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के प्रभाव से थोड़ी-बहुत रुकावट अवश्य होती है। यहाँ के पूँजीपतियों का कहना है कि राष्ट्र की उदासीनता के कारण उत्पादन-मूल्य ऐसे उपायों द्वारा ही घटाया जा सकता है। सारांश यह है कि उत्पादन-मूल्य घटाने के लिए श्रमजीवियों तक का वेतन घटाकर प्रतिद्वन्द्विता का सामना किया गया है। इतनी चेष्टा के बाद भी यदि यह समझा जाता है कि अल्पकाल के लिए देश का औद्योगिक उत्पादन आपेक्षिक मूल्य पर नहीं हो सकता तो उस समय तक के लिए संरक्षण द्वारा आयात का मूल्य देशी मूल्य से बढ़ा देते हैं, जिससे देशी कारख़ानों को हानि न पहुँचे और उनके उत्पादित पदार्थ देश में बिक सकें।

अंतर्राष्ट्रीय-क्षेत्र में खपत के अन्य उपाय

यह क्रम तो अपने देश के अन्दर व्यापार तथा उत्पादन बढ़ाने का है। इसके अतिरिक्त देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि के लिए अन्य उपाय भी करने पड़ते हैं। किसी पदार्थ की बिक्री अन्य देशों में तब ही हो सकती है जब वह पदार्थ दूसरे देशों में आपेक्षिक मूल्य पर बेचा जा सके। यदि उत्पादन करनेवाले देश में उस पदार्थ का उत्पादन सम्बन्धी सभी सामान पैदा होता हो तथा अन्य सब प्राकृतिक सुविधाएँ वर्तमान हों तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उस पदार्थ की बिक्री निश्चित-सी है। यदि ऐसा न हुआ अथवा अन्य देशों ने उस पदार्थ की बिक्री पर निषेध अथवा प्रतिबन्ध लगाए तो राष्ट्र को भिन्न-भिन्न प्रकार से उस उद्योग को सहायता देनी पड़ती है, जिससे उस पदार्थ की बिक्री होती रहे। यदि वह पदार्थ ऐसा हुआ जिस पर राष्ट्र द्वारा उत्पादन-कर लगाया जाता है तो राष्ट्र ऐसे पदार्थ को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विद्यमान रखने के लिए उस पदार्थ के निर्यात पर उत्पादन-कर नहीं लेता। इस प्रकार उस पदार्थ का मूल्य दूसरे देशों में कर की मात्रा भर कम हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि देशवासियों के मोल लेने पर एक पदार्थ का मूल्य उसी पदार्थ के विदेशियों के मोल लेने के मूल्य से अधिक हो जाता है। भारतवर्ष के शक्कर के कारख़ानों ने ठीक इसी प्रकार की सुविधा के लिए भारत-सरकार से प्रार्थना की थी। उनका कहना था कि भारत-वासियों की माँग से बची हुई शक्कर इँगलैंड में बेची जाय और उसका मूल्य घटाने के लिए राष्ट्र तीन रुपया प्रति हन्डरवेट (cwt) का उत्पादन-कर न ले। दूसरी सहायता पदार्थ ले जाने के भाड़े की कमी की होती है। कभी-कभी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-क्षेत्र में जानेवाले पदार्थों का रेल अथवा जहाज़ पर ले जाने का भाड़ा कम कर देता है। यदि रेलें आदि राष्ट्र की पूँजी द्वारा चलनेवाली न हुईं तो राष्ट्र भाड़े का ख़र्च स्वयं दे देता है। इस प्रकार की सहायता द्वारा दक्षिणी अफ़्रीका का कोयला बम्बई की मिलों में भारतवर्ष के कोयले से कम दाम पर बेचा जाता रहा है। यदि दक्षिणी अफ़्रीका के कोयले पर जहाज़ द्वारा समुद्र-मार्ग से भारतवर्ष तक लाने का पूरा भाड़ा पड़े तो वह बम्बई में झरिया तथा रानीगंज के कोयले की अपेक्षा मँहगा पड़े और न बिक सके। इस परिस्थिति को बचाने के लिए दक्षिणी अफ़्रीका की सरकार भारतवर्ष को भेजे जानेवाले कोयले पर जहाज़ के भाड़े में सात शिलिङ्ग छः पेन्स प्रति टन की कमी कर देती रही है और इसी से भारतवर्ष में उसकी बिक्री बनी रह सकी है।

कार्टेल और सिन्डिकेट

तीसरी युक्ति यह होती है कि यदि किसी पदार्थ का उत्पादन देश में इतना अधिक हो जाय कि देशवासियों को उसके आयात की आवश्यकता न हो और उसका निर्यात हो सके अर्थात् उस पदार्थ के उत्पादन का देशवासियों को एकाधिकार प्राप्त हो तो राष्ट्र उस पदार्थ की बिक्री का मूल्य अपने देश के लिए स्वयं निश्चय कर देता है और देश के कारख़ानों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता बन्द कर देता है। इस नीति का ध्येय यह होता है कि उत्पादित पदार्थ देशवासियों के लिए वास्तविक मूल्य अथवा अपेक्षित मूल्य से कुछ अधिक मूल्य पर बेचा जाय और इस प्रकार जमा किए हुए धन से उस पदार्थ का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य घटा दिया जाय, जिससे अन्य देशों की अपेक्षा अपने देश का मूल्य कम हो और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता में अपने देश का पदार्थ बिक सके। इस नीति का पालन करने के लिए राष्ट्र को एक विशेष प्रकार की संस्था स्थापित करना पड़ती है, जो समस्त देश के उत्पादन तथा बिक्री को नियमित करती है। संसार के सब देशों में इस प्रकार की नीति को सफलतापूर्वक चलानेवाला देश जर्मनी रहा है। जर्मनी में कारटेल (Kartel) अथवा सिन्डिकेट (Syndicate) नाम की बहुत-सी संस्थाएँ हैं। ये कारटेल किसी उद्योग में व्यक्तिगत कारख़ानों की उत्पादन-मात्रा स्वयं निश्चय

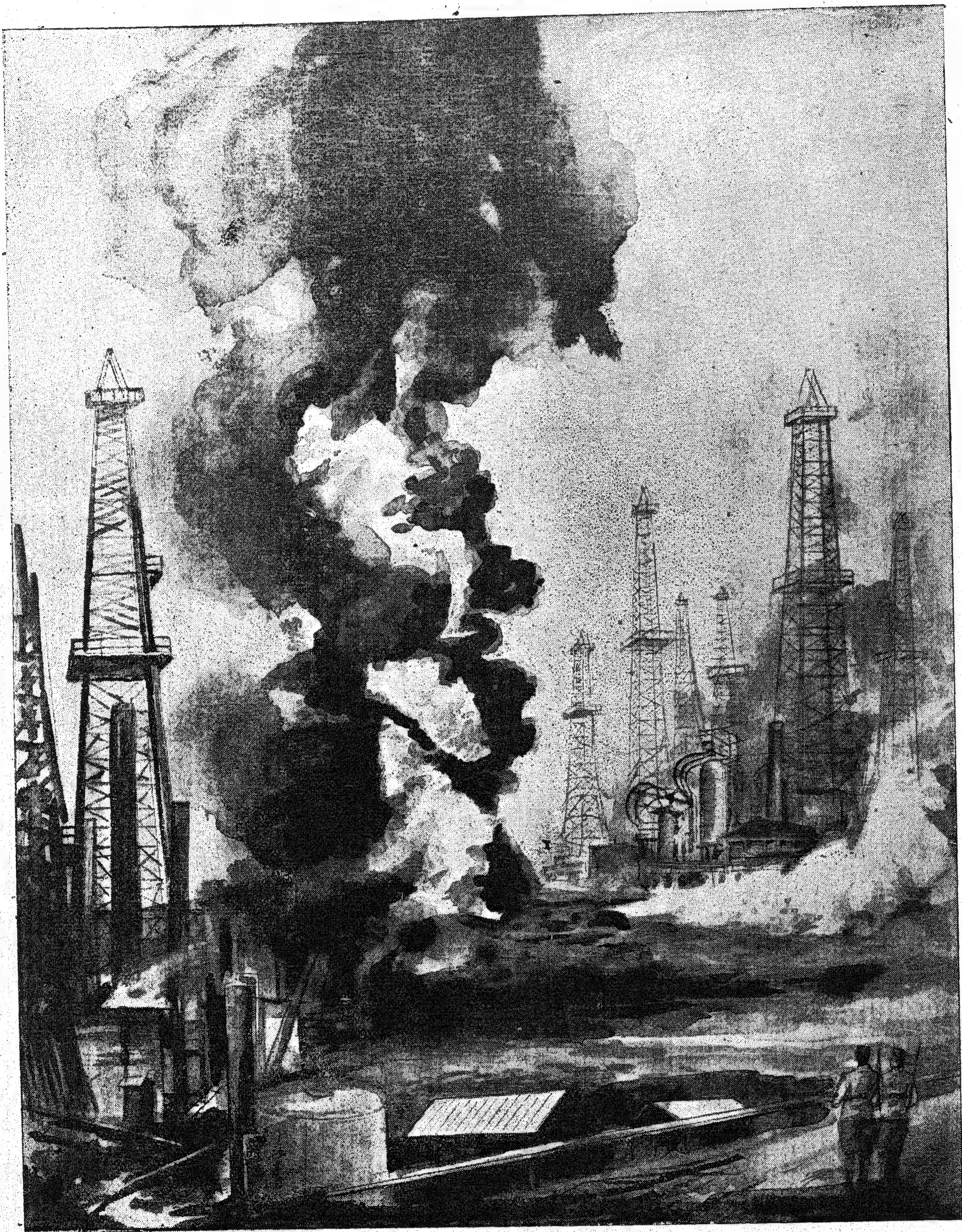
करते हैं, जिससे प्रतिद्वन्द्विता के कारण सम्पूर्ण उत्पादन इतना न बढ़ जाय कि उसके दाम बिक्री में गिर जायँ। फिर ये कारटेल सब कारख़ानों के उत्पादित पदार्थ एक निश्चित भाव पर मोल ले लेते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि उत्पादित पदार्थ कारख़ानों से ले जाकर किसी केन्द्रीय स्थान पर एकत्रित किए जायँ। पदार्थ कारख़ानों ही में रहते हैं और रक्खे जा सकते हैं, परन्तु उन पर अधिकार कारटेल का होता है। इनकी बिक्री का नियम तथा दर कारटेल निश्चित करता है। बिक्री द्वारा प्राप्त सारा धन, कारटेल के कारख़ाने से मोल लेने के भाव को घटाकर, कारटेल का हो जाता है। इस समुचित धन से कारटेल उसी पदार्थ के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को फैलाता है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता का सामना करता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि अमुक पदार्थ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में १०) के दर से बिक सकता है और देशी कारख़ानों का वास्तविक उत्पादन-मूल्य १०॥) है, तो कारटेल उस पदार्थ को देश में ११॥) के दर से बेचेगा और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में १०) ही को बेचेगा तथा ॥) प्रति पदार्थ की कमी की पूर्ति कारटेल देशी लाभ के समुचित धन से कर देगा और बचा हुआ धन कारख़ानों में उत्पादन के हिसाब से बाँट देगा। इस प्रकार सब कारख़ानों से सामूहिक सहायता लेकर देश का व्यापार बनाए रक्खा जाता है। यदि कोई कारख़ाना अधिक लाभ उठाना चाहता है तो वह अपना उत्पादन-मूल्य घटा कर अपना निजी लाभ बढ़ा सकता है। हमारे देश में भी शक्कर के व्यापार में इसी प्रकार की एक संस्था 'इंडियन शूगर सिंडिकेट' के नाम से संयुक्त प्रान्त और बिहार प्रान्त के लिए स्थापित है। केवल अन्तर इतना है कि इस संस्था को शक्कर देश के बाहर भेजने अथवा बेचने का अधिकार नहीं है।

'मूल्य-भेद' नीति तथा उत्पादन-मूल्य से कम दाम पर माल बेचने की युक्ति

इस प्रकार की नीति में उत्पादन करनेवाले देश उत्पादन-मूल्य से बहुत कम दाम पर दूसरे देश में पदार्थ बेच देते हैं, जिससे वहाँ के कारख़ाने प्रतिद्वन्द्विता के कारण बन्द हो जाएँ और अपने देश के हाथ में एकाधिकार व्यापार आ जाय। देश और विदेश में पदार्थ के भिन्न-भिन्न मूल्य निश्चय करने की नीति को 'मूल्य-भेद' (Price-discrimination) की नीति कहते हैं और दूसरे देश में उत्पादन-मूल्य से कम मूल्य पर पदार्थ बेचने को नीति को 'डम्पिंग' (Dumping) कहते हैं। इस नीति का पालन जर्मनी और जापान ने युद्ध से पूर्व किया था। मूल्य-भेद की नीति तो इँगलैंड के व्यापारी भी चलाते रहे हैं। युद्ध से पूर्व जिस मूल्य पर जापान की बनी हुई साइकिल तथा अन्य पदार्थ भारतवर्ष में मिलते रहे, उस मूल्य पर वही पदार्थ जापान देश में नहीं मिल सकते थे। यही हाल इँगलैंड और जर्मनी के बने हुए सामान का भी था। यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता की नीति का फल है कि अन्य देश अपने पदार्थ भारतवर्ष के बाज़ार को हाथ में रखने के लिए कम मूल्य पर बेचते रहे हैं। परन्तु इसका दुष्परिणाम यह होता है कि भारतवर्ष के उद्योग उन्नति नहीं कर पाते और सदैव राष्ट्र की ओर संरक्षण-कर के लिए देखा करते हैं।

सिक्के के दर के घटाव की युक्ति

जैसा आयात-निषेध के सम्बन्ध में बतलाया जा चुका है, अपने सिक्के का दर अन्य देशों के सिक्कों के लिहाज़ से घटाने से भी अपने देश के निर्यात की वृद्धि होती है। कारण यह है कि इस युक्ति से अपने देश के पदार्थ दूसरे देश के सिक्के के दर में सस्ते हो जाते हैं, यद्यपि अपने देश में उनके मूल्य में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। परन्तु इसका परिणाम दो देशों में विरोध-भाव पैदा करनेवाला होता है और उन दो देशों के सिक्के के दर के घटाव तथा संरक्षण-कर की मात्रा के बढ़ाव में द्वन्द्व होने लगता है। जितना-जितना सिक्के का दर घटाया जाता है उतना-उतना उसके प्रभाव को नष्ट करने के लिए राष्ट्र संरक्षण-कर बढ़ाता है। ऐसी परिस्थिति एक समय भारतवर्ष के कपड़े के व्यापार के सामने आ गई थी, जब १९३० में जापान ने येन का भाव रुपए के लिहाज़ से बहुत कम कर दिया था और भारत-सरकार को कपड़े के कारख़ानों की रक्षा के लिए ७५ प्रतिशत संरक्षण-कर लगाना पड़ा था। इन पारस्परिक झगड़ों का अन्त आपस के व्यापारी समझौते अथवा सैनिक शक्ति द्वारा ही होता है। इसी प्रकार के व्यापारी झगड़े ने उन्नीसवीं शताब्दी में इङ्गलैंड और अमेरिका में युद्ध तक करवा दिया था। भारतवर्ष तथा जापान का झगड़ा दोनों राष्ट्रों में व्यापारी समझौते द्वारा मिट गया था, जिसके अनुसार जापानी कपड़े और भारतवर्ष की रुई के आयात-निर्यात की मात्रा निश्चित कर दी गई थी। आजकल के महायुद्ध के कारणों में भी एक प्रमुख कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधी समस्याएँ ही हैं।



पेट्रोलियम के क्षेत्र में जब कभी आग लग जाती है तो मानों प्रलय-ताण्डव का दृश्य दिखाई देने लगता है ! प्रायः पेट्रोलियम के कुओं में से ऐसी प्रज्वलनशील गैसें निकल पड़ती हैं जो ज़रा-सी चिनगारी पाते ही धधक उठती हैं। इनके साथ ही यदि तेल भी आग पकड़ ले तो भयंकर विस्फोट के साथ कुएँ के ऊपर का सारा साज-सामान टूट-फूटकर आकाश में उड़ जाता है और ऐसा भीषण अग्निकाण्ड हो जाता है जिसका महीनों तक अंत नहीं हो पाता।

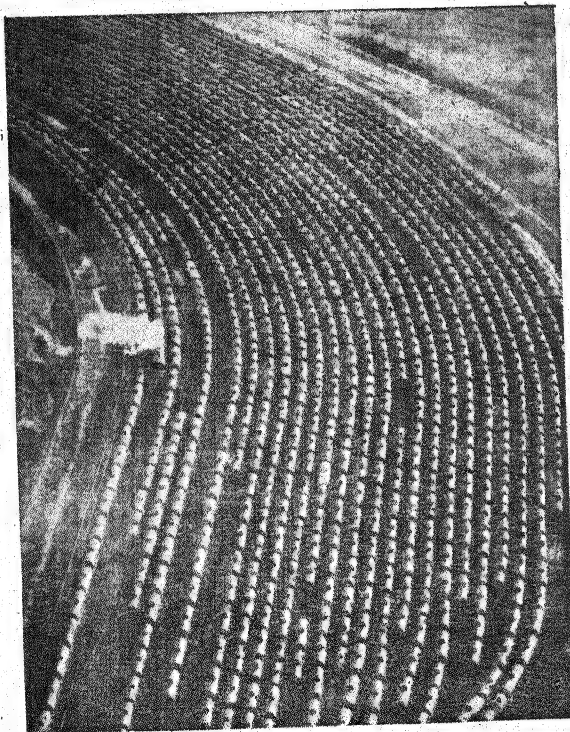


यंत्रयुग की शक्ति का स्रोत—खनिज तेल या पेट्रोलियम

आज दिन किसी भी देश की शक्ति का अनुमान उसके कल-कारख़ाने, हवाई जहाज़, मोटरें आदि के बल पर ही प्रायः लगाया जाता है, किन्तु ये सभी शक्ति के साधन वस्तुतः एक दूसरी ही भित्ति पर स्थापित हैं, जो यदि ढह जाय तो ये कहीं के न रहें ! यह भित्ति है खनिज तेल, जिसे हम निर्विवाद रूप से इस यंत्र-युग की शक्ति का प्रधान स्रोत कह सकते हैं। प्रस्तुत लेख मनुष्य की इसी मूल्यवान् संपत्ति के संबंध में है।

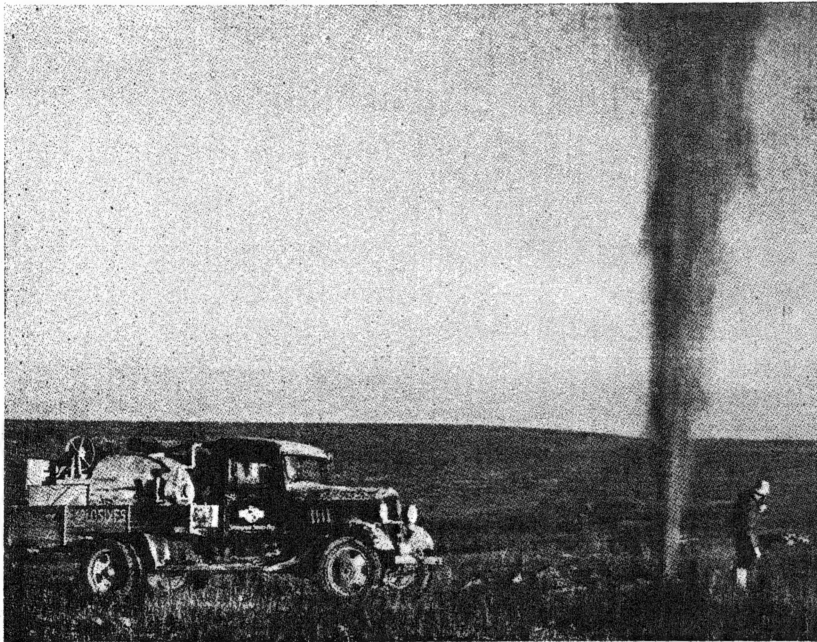
खनिज तेल के प्रयोग से प्राचीन काल के लोग सर्वथा अनभिज्ञ नहीं थे। यूनान तथा मिस्र के प्राचीन ग्रन्थों में खनिज तेल का उल्लेख आता है। उस सुदूर अतीत में खनिज तेल का प्रयोग शरीर में लगाने के लिए होता था। औषधि की भाँति इसे मालिश करने के काम में भी लोग लाते थे। तेरहवीं शताब्दी का प्रसिद्ध यात्री मार्कोपोलो लिखता है कि बाकू से खनिज तेल ले जाने के लिए लोग हज़ारों मील की दूरी से आया करते थे ! मिस्र में प्राचीन काल में शव पर अन्तिम संस्कार के पहले खनिज तेल भी चुपड़ते थे। रोम में जुपिटर के मन्दिर में सिसली से प्राप्त मिट्टी के तेल के दीपक से प्रकाश किया जाता था। बरमा में इरावदी के तट के मिट्टी के तेल के कुएँ हज़ारों वर्ष पूर्व के हैं। चीन में भी ईसा से सैकड़ों वर्ष पूर्व 'आर्टीजन कुएँ' खोद-कर खनिज तेल निकाला जाता था।

किन्तु यन्त्रों या मशीनों के लिए चालक शक्ति के साधन के रूप में खनिज तेल की परख १९वीं शताब्दी के पूर्व कोई न कर पाया था। इसी कारण उन दिनों खनिज तेल (जिससे अब पेट्रोल, केरोसिन तेल, मोबिल आयल और वैस-लीन आदि प्राप्त किए जाने लगे हैं) का कार-बार भी कुछ अधिक पनप न सका था।



कल-कारख़ानों, हवाई अड्डों और युद्ध के मैदानों तक तेल पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण काम करनेवाली ये तेलवाहक टंकियों की शृंखलाएँ वस्तुतः आज दिन प्रत्येक देश की प्राणवाहिनी धमनियाँ बन रही हैं, क्योंकि इन्हीं पर उनके जीने-मरने का प्रश्न निर्भर है।

भूमि के अन्दर से खनिज तेल जिस समय बाहर निकलता है, यह पानी की अपेक्षा एक मटमैले गाढ़े पीले रंग के द्रव के रूप में होता है। इस द्रव को 'पेट्रोलियम' का नाम दिया गया है। 'पेट्रोलियम' लैटिन भाषा के दो शब्दों से मिलकर बना है—पेट्रा(Petra)= चट्टान; ओलियम (Ole-um)=तेल। इस प्रकार



शरीर में मलते, क्योंकि उनकी धारणा थी कि ऐसा करने से उनके अन्दर चुस्ती और तेज़ी उत्पन्न होती है। नवागन्तुकों ने भी अमेरिका में जब अपना डेरा-डंडा जमाया तो रेड-इण्डियनों की भाँति पेट्रोलियम का प्रयोग करना सीखा। किन्तु इनके बीच भी पेट्रोलियम का उपयोग औषधि के रूप तक ही बहुत दिनों तक सीमित रहा। धरती पर जहाँ पेट्रोलियम पसीजा करता, ये लोग कम्बल डाल देते। कम्बल तेल को सोख लेता, तब इसे निचोड़कर तेल किसी

'प्रास्पेक्टिंग' के विशेषज्ञ इसी प्रकार डायनामाइट द्वारा एक हलका-सा कृत्रिम भूकंप पैदा कर उससे उत्पन्न तरंगों को मोटर पर लगे सीस्मोग्राफ़यंत्र द्वारा जाँचकर पता लगाते हैं कि नीचे की चट्टानों में तेल है या नहीं।

इसका अर्थ हुआ—चट्टान का तेल। भिन्न-भिन्न स्थानों पर पाए जानेवाले पेट्रोलियम का रंग हलके पीले से लेकर एकदम काला तक होता है।

यद्यपि प्राचीन काल से ही लोग पेट्रोलियम से परिचित थे, किन्तु उन दिनों इसे साफ़ करने की बात किसी को भी न सूझी। इसी गंदे द्रव को एक छिछले बर्त्तन में, जिसका आकार दिए जैसा होता था, रखकर वे जलाते—ठीक उसी प्रकार जैसे सरसों के गाढ़े तेल से हमारे यहाँ दिया जलाते हैं। पेट्रोलियम को साफ़ करके उससे केरोसिन तेल (Kerosene) प्राप्त करना लोग नहीं जानते थे। स्वयं हमारे बड़े-बूढ़ों के होश में ही केरोसिन या मिट्टी का तेल सर्वप्रथम बाज़ार में बिकने आया था।

आज दिन अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र को हम पेट्रोलियम का भण्डार कह सकते हैं। योरप के निवासी जब पहलेपहल अमेरिका के उस भाग में गए, जिसे अब संयुक्त राष्ट्र के नाम से पुकारते हैं तो उन्होंने देखा कि इस देश के कई प्रदेशों में धरती में से पेट्रोलियम का गाढ़ा तेल पसीज-सा रहा था। पानी के ऊपर भी कई स्थानों पर उन्होंने इस तेल को तैरते हुए देखा। उन्होंने यह भी देखा कि अमेरिका के मूल निवासी इस तेल को अपने

बर्त्तन में इकट्ठा कर लिया जाता। पानी पर तैरते हुए तेल को वे प्रायः हाथ से ऊपर-ऊपर काछ लेते। उन दिनों पेट्रोलियम औषधि के नाम पर महँगे दामों बिका करता। गठिया के लिए इसकी मालिश करना रामबाण समझा जाता। उन दिनों घरों में साल-छः महीने में मुश्किल से एकाध बोतल पेट्रोलियम ख़र्च हो पाता था।

१९वीं शताब्दी का आरम्भ होते-होते इस नवीन तेल के दिन फिरे। १८०६ में पश्चिमी वर्जीनिया में नमकीन पानी (Brine) की खोज में कुएँ गलाते समय कुएँ के अन्दर नमक के घोल के साथ-साथ पेट्रोलियम भी प्रचुर मात्रा में मिला। नमक तैयार करने के लिए धरती में गड्ढे (कुएँ) खोदे जाते थे, जो लगभग आधा मील नीचे बालूवाली तह तक पहुँचते थे। नमक मिले हुए जल को कुएँ में से निकालकर जल को सुखाकर नमक प्राप्त करते थे। इस नमकीन जल में कभी-कभी पेट्रोलियम इतनी अधिक मात्रा में मिला हुआ होता कि उससे नमक बनाना सम्भव नहीं होता। ऐसी दशा में उस कुएँ के गलाने में व्यय किया गया रुपया डूबा हुआ समझा जाता। १८३० में ऐसे ही एक कुएँ की खुदाई के सिलसिले में देखा गया कि कुएँ के भीतर से निकलनेवाला

द्रव न तो पानी में नमक का घोल था और न पेट्रोलियम-मिश्रित घोल, बल्कि विशुद्ध पेट्रोलियम ! कुएँ के अन्दर से थोड़ी-थोड़ी देर पर अपने आप पेट्रोलियम का उद्गार-सा होता था। कहा जाता है, कई दिनों तक इस कुएँ से १५० टन पेट्रोलियम प्रति दिन के हिसाब से निकलता रहा। बाद में ३० वर्ष तक प्रति दिन कई पीपे के हिसाब से उसका निकलना जारी रहा।

१८४८ में सैमुएल एम० कियेर ने अपनी प्रयोगशाला में पेट्रोलियम के गाढ़े द्रव को गर्म करके उसका परिस्रवण (Distillation) किया। पेट्रोलियम से निकली हुई वाष्प को ठण्ढा करने पर एक हलका तेल उसे मिला, जो लैम्प में बड़ी आसानी के साथ जलता था। अपनी तेज़ दुर्गन्ध के कारण इसे 'कार्बन का तेल' का नाम मिला। कहने की आवश्यकता नहीं कि यही मिट्टी का तेल या 'केरोसिन' था। उन दिनों यह एक रुपए प्रति बोतल के हिसाब से बिका करता था।

'केरोसिन' के कारण पेट्रोलियम की भी क़द्र अब बढ़ गई। तत्कालीन अन्वेषकों और वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। रसायनज्ञों ने पेट्रोलियम का आंशिक परिस्रवण करके उससे अनेक नए रासायनिक पदार्थ प्राप्त किए, जो बाद में व्यवसाय के विभिन्न क्षेत्रों में अत्यन्त उपयोगी साबित हुए। फलस्वरूप प्रत्येक प्रगतिशील देश में धरती के गर्भ के रहस्योद्घाटन का प्रयत्न किया जाने लगा कि कहाँ पर पेट्रोलियम मिल सकता है।

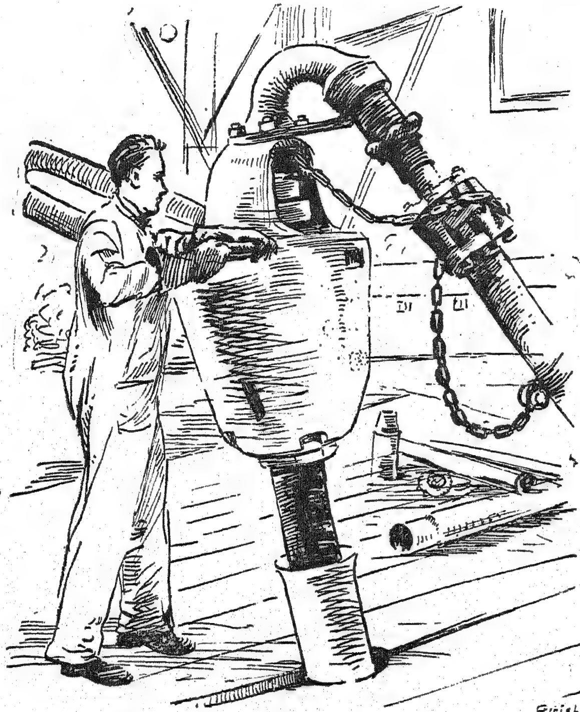
ज़मीन में गहरे कुएँ गलाकर उनमें से प्रचुर मात्रा में पेट्रोलियम निकालने के सर्वोत्तम साधन ढूँढ़ निकालने का श्रेय कर्नल एडविन एल० ड्रेक नामक एक अमेरिकन को प्राप्त है। खनिज तेल के व्यवसाय में अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र का स्थान सर्वोपरि है और इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि ड्रेक ही इस व्यवसाय का जन्मदाता था। १८५४ में तेल के व्यवसाय को बड़े पैमाने पर चालू करने के उद्देश्य से एक कम्पनी पेन्सिलवानिया (संयुक्त राष्ट्र) में बनी। इस कम्पनी के डायरेक्टरों ने सोचा कि यदि नमकवाले क्षेत्र में कुआँ इतना गहरा गलाया जाय कि वह नमकीन पानी के स्तर को पारकर पेट्रोलियम-वाली छिद्रमय चट्टानों तक पहुँच सके तो विशुद्ध पेट्रोलियम प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो सकेगा। इस कम्पनी ने कर्नल ड्रेक को ऐसा कुआ गलाने का भार सौंपा। यद्यपि ड्रेक कर्नल कहलाता था, किन्तु उसने सेना में कभी नौकरी नहीं की थी। वह इसके पहले रेलगाड़ी के कण्डक्टर का काम करता था, किन्तु अपने असन्तोष-जनक स्वास्थ्य के कारण उसने इस नौकरी से त्यागपत्र दे दिया था। तेल की खुदाई के प्रति उसके मन में बड़ा उत्साह था। आरम्भ में कुएँ के अन्दर से नमकीन पानी इतनी अधिक मात्रा में निकला कि सारा कुआँ इस पानी से ही लबालब भर गया। इस कठिनाई को दूर करने की ड्रेक ने एक सुन्दर तरकीब ढूँढ़ निकाली। उसने सोचा कि कुएँ के



तेल का कुआँ खोदते समय प्रायः इसी प्रकार कभी-कभी पेट्रोलियम एकदम इतनी अधिक मात्रा में धरती से बाहर निकल पड़ता है कि वह सँभाले नहीं सँभलता और उसका एक नाला-सा बह चलता है!

बीचोबीच यदि इस्पात का पतला पाइप गलाया जाय तो वह अवश्य नमकीन पानी के स्तर को पारकर पेट्रोलियमवाली तह तक पहुँच जायगा, अतः इसमें से नमकीन पानी के स्थान पर पेट्रोलियम ही निकलेगा।

इसी बीच ड्रेक ने नमक के कुएँ गलाने में सिद्धहस्त मिस्त्री बिली स्मिथ को इस्पात के पाइप गलाने के लिए नियुक्त किया। कम्पनी ने इस योजना को आरम्भ करते समय यह नहीं सोचा था कि इसे कार्यान्वित करने में इतना अधिक व्यय हो जायगा। फलतः कम्पनी की सारी पूँजी खान के चालू होने के पहले ही समाप्त हो गई। किन्तु ड्रेक इस अड़चन से हतोत्साहित होनेवाला व्यक्ति न था। उसने अपने निज का सारा रुपया तेल के कुएँ की खुदाई में लगा दिया। बिली स्मिथ ने मई १८५६ में यह काम आरम्भ किया था। मई से अगस्त तक वह ७० फ़ीट नीचे तक ट्यूब गला पाया था। प्रति दिन ट्यूब ३ फ़ीट से अधिक नीचे नहीं धँस पाता था। २८ अगस्त को बिली स्मिथ अपने मज़दूरों के संग काम समाप्त करके शाम को डेरे पर जाने की तैय्यारी कर रहा था कि उसने देखा कि उस ७० फ़ीट लम्बे ट्यूब से पेट्रोलियम रिस रहा है! तुरन्त ही उसने कर्नल ड्रेक को बुलाया और कहा; देखिए, "क्या निकल रहा है?" कर्नल ड्रेक की समझ में कुछ नहीं आया। उसने पूछा, "आख़िर इसका मतलब क्या है?" बिली स्मिथ ने उत्तर दिया, "यही तो तुम्हारी क़िस्मत है, जो अब जगी है!"



तेल का कुआँ खोदने के लिए काम में लाये जानेवाले एक शक्तिशाली ड्रिलिंग यंत्र का एक भाग। इस यंत्र द्वारा डेढ़ मील की गहराई तक खुदाई की जा सकती है।

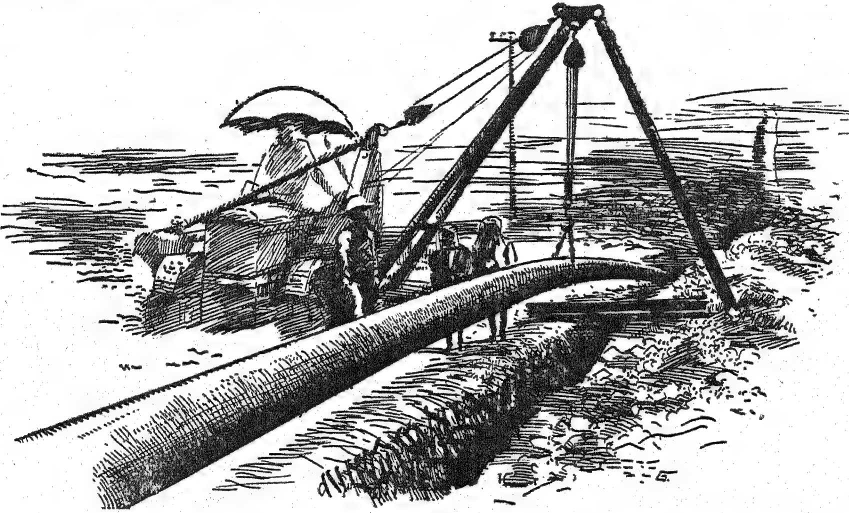
दूसरे दिन सूर्योदय तक इस ट्यूब से कई बैरेल पेट्रोलियम निकाला जा चुका था। ड्रेक ने ट्यूब पर फ़ौरन् ही एक पम्प लगाया और तेल का खींचना जारी हो गया। कर्नल ड्रेक की प्रसन्नता की सीमा न थी, क्योंकि उसने तो यह अनुमान कर रक्खा था कि कम से कम ५०० या ७०० फ़ीट की गहराई पर जाने पर ही पेट्रोलियम उसे मिल सकेगा।

तब तो कुछ ही महीनों के अन्दर इस कुएँ के आस-पास के क्षेत्रों में सैकड़ों कुएँ अन्य कम्पनियों ने गलाए। इस क्षेत्र की ज़मीन का एक-एक बालिश्त तुरन्त ही तेल की कम्पनियों ने या तो पूर्णतया ख़रीद लिया या उसे पट्टे पर एक लम्बी अवधि के लिए ले लिया। जहाँ पहले इस क्षेत्र में सौ-सवा सौ से अधिक जनों की बस्ती न थी, कुछ ही सप्ताहों में वहाँ १५ हज़ार की जन-संख्या हो गई!

अब तो अमेरिका का संयुक्त राष्ट्र खनिज तेल के व्यवसाय में सर्वोच्च शिखर पर आसीन है। पिछले ७० वर्षों में अमेरिका के पेट्रोलियम-व्यवसाय ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। इस व्यवसाय का आरंभ ड्रेक के ७० फ़ीट गहरे एकमात्र कुएँ से हुआ था, जिसके पीछे कुल पूँजी २००० डालर से भी कम लगी थी। इस कुएँ से प्रतिदिन दो-चार बैरेल से अधिक तेल नहीं निकलता था। तब से पेट्रोलियम की निकासी के लिए ३२ लाख से अधिक कुएँ संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न प्रान्तों में गलाए जा चुके हैं! फलस्वरूप पेट्रोलियम का व्यवसाय अमेरिका में इस सीमा तक बढ़ गया है कि कृषि और रेलवे के बाद वहाँ इसी का स्थान आता है। लगभग १२ लाख ५ हज़ार व्यक्ति इस व्यवसाय में लगे हुए हैं। इनके अतिरिक्त लगभग डेढ़ लाख मनुष्यों का स्वार्थ पूँजी के रूप में इस व्यवसाय से सम्बद्ध है। आँकड़े देखने से पता चलता है कि वहाँ ११ अरब डालर के लगभग पूँजी इस व्यवसाय में लगी हुई है।

पेट्रोलियम का पता कैसे लगाते हैं ?

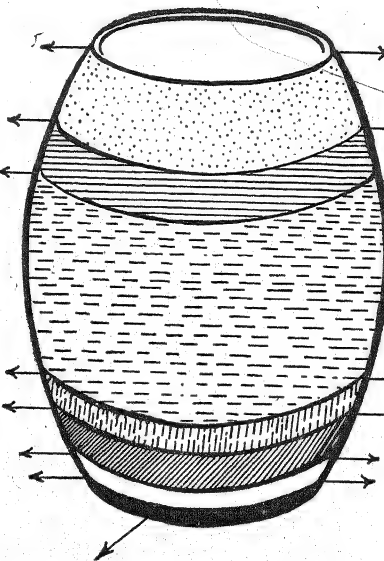
पृथ्वी के गर्भ में छिपी हुई खनिज तेल की राशि का पता लगाने के लिए विज्ञान की भरपूर सहायता ली गई है। इस सिलसिले में एक सर्वथा नवीन विद्या 'प्रास्पेक्टिंग' (Prospecting) का निर्माण हुआ है। भूगर्भ की जानकारी पाने के लिए इसी विद्या की शरण ली जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस क्रिया में भौतिक विज्ञान, भूगर्भ-विद्या तथा प्रस्तरान्तरित उद्भिज की जानकारी—सभी का प्रचुर मात्रा में समावेश है। वर्त्तमान जानकारी के अनुसार पेट्रोलियम केवल स्तरमयी चट्टानों में पाया जाता है, किन्तु सभी स्तरमयी चट्टानों में नहीं। उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) में अधिकांश चट्टानें स्तरमयी हैं, किन्तु उनमें कुछ प्रतिशत ही ऐसी हैं जिनमें पेट्रोलियम मिलता है। प्रॉस्पेक्टिंग करनेवाला विशेषज्ञ साधारणतः सैकड़ों फ़ीट नीचे पृथ्वी के गर्भ की चट्टानों की जाति निश्चित करने के लिए 'सीस्मोग्राफ़' नामक यंत्र का प्रयोग करता है। यह यंत्र वास्तव में भूचाल की तीव्रता आदि नापने के काम आता है। किन्तु प्रॉस्पेक्टिंग का विशेषज्ञ स्वयं ही एक कृत्रिम भूचाल उत्पन्न करता है। मान लीजिए, उसे पता लगाना है कि अमुक स्थान पर पेट्रोलियम निकलने की संभावना है या नहीं। बिना गहरा कुआँ खोदे ही, धरातल पर वह बारूद का विस्फोट कराकर एक हलका-सा भूचाल उत्पन्न करता है। इस विस्फोटन से उत्पन्न हुई धरती की कम्पन गहराई में प्रवेश करती है और यदि यह स्तरमयी चट्टान के किसी 'भ्रंश' (fault) या मेहराब से टकराती है, तो पुनः परावर्त्तित होकर वह ऊपर धरातल की ओर लौट आती है। कम्पन के नीचे जाकर ऊपर लौट आने के समय को आँककर भूतत्त्ववेत्ता तुरन्त हिसाब लगा लेता है कि कम्पन कितनी गहराई से लौटी है, साथ ही उसे इस बात का भी आभास मिल जाता है कि जहाँ से यह कम्पन लौटी है वहाँ पर किस जाति की चट्टान मौजूद है; और इस प्रकार वह अनुमान लगा लेता है कि उस स्थान पर पेट्रोलियम निकलने की सम्भावना है या नहीं। पेट्रोलियम-व्यवसाय के प्रारम्भिक दिनों में प्रॉस्पेक्टिंग के विशेषज्ञों पर कुछ अधिक भरोसा नहीं किया जाता था, बल्कि उल्टे लोग इनकी हँसी उड़ाते थे। कोई इन्हें 'तेल सूँघनेवाला' बताता तो कोई इन्हें 'तेल के भूत' की उपाधि देता! किन्तु अब प्रत्येक पेट्रोलियम कम्पनी अनिवार्य रूप से इन विशेषज्ञों से परामर्श लेती है। क्योंकि वे जानती हैं कि इनसे परामर्श लेने पर झूठे कुओं की गलाई में उनके रुपये व्यर्थ नष्ट न हो सकेंगे।



इराक़ के तेल-क्षेत्रों से हैफ़ा और त्रिपोली के बंदरगाहों तक पेट्रोलियम ले जाने के लिए पाइप-लाइन डाली जा रही है। इस प्रकार तेल धरती के भीतर ही हज़ारों मील दूर पहुँचाया जाता है।

यह निश्चय हो जाने के बाद कि अमुक स्थान पर तेल के लिए कुआँ खोदना है, उस स्थान पर सर्वप्रथम लोहे के गर्डर या लकड़ी की मज़बूत बल्लियाँ गाड़कर एक स्तूपाकार (पिरैमिड की शक्ल का) लगभग ७० फ़ीट ऊँचा ढाँचा खड़ा कर लेते हैं। इसे 'डेरिक' कहते हैं। फिर पास ही एक सुदृढ़ स्तम्भ पर लोहे की मज़बूत धुरी लगाकर उसके बल पर एक शहतीर इस प्रकार खड़ी करते हैं कि शहतीर का एक सिरा डेरिक के ठीक केन्द्र में पड़े। शहतीर का दूसरा सिरा एक वाष्प-इंजिन से सम्बद्ध रहता है। यह इंजिन साधारणतः १५ अश्वबल की शक्ति का होता है। इस इंजिन का ब्वॉयलर तथा इसकी भट्ठी डेरिक से कुछ दूरी पर स्थित होती हैं, ताकि

पेट्रोलियम के कुएँ से निकलनेवाली जलनशील अथवा विस्फोटक गैसों में आग लगने की सम्भावना न रहे। इस इंजिन की शक्ति से शहतीर का सिरा ऊपर-नीचे ठीक उसी प्रकार हरकत करता रहता है, जिस प्रकार ढेंकी चलती है। सबसे ऊपर 'टेम्पर स्क्रू' होता है, जिसका ऊपरी सिरा सीधे शहतीर के छोर में लगा होता है। टेम्पर स्क्रू के निचले छोर में एक पेंचदार क्लैम्प नामक हिस्सा लगा होता है, जो केबुल-तार या फ़ौलादी रस्सी (बरड़ी) को दृढ़ता के साथ पकड़ लेता है। इस केबुल के निचले छोर से लगभग २० फ़ीट लम्बी और ५ इंच मोटी लोहे की एक भारी छड़ जुड़ी होती है, जिसे 'सिन्कर बार' कहते हैं। दो और छड़ों के ज़रिए यह एक और लम्बे तथा भारी छड़ से सम्बद्ध रहती है। यह छड़ 'ऑगर बार' कहलाती है। 'ऑगर बार' के निचले छोर में चट्टान तोड़नेवाली बर्मी पेंच पर कसी गई होती है। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि केबुल-तार से लटके हुए यंत्रों का भार बहुत ही अधिक होता है। यह सारा यंत्र निम्नलिखित प्रकार से काम करता है:—



एक बैरल कच्चे पेट्रोलियम को साफ़ करने पर उससे प्रायः ऊपर लिखी वस्तुएँ निर्दिष्ट मात्रा में प्राप्त होती हैं

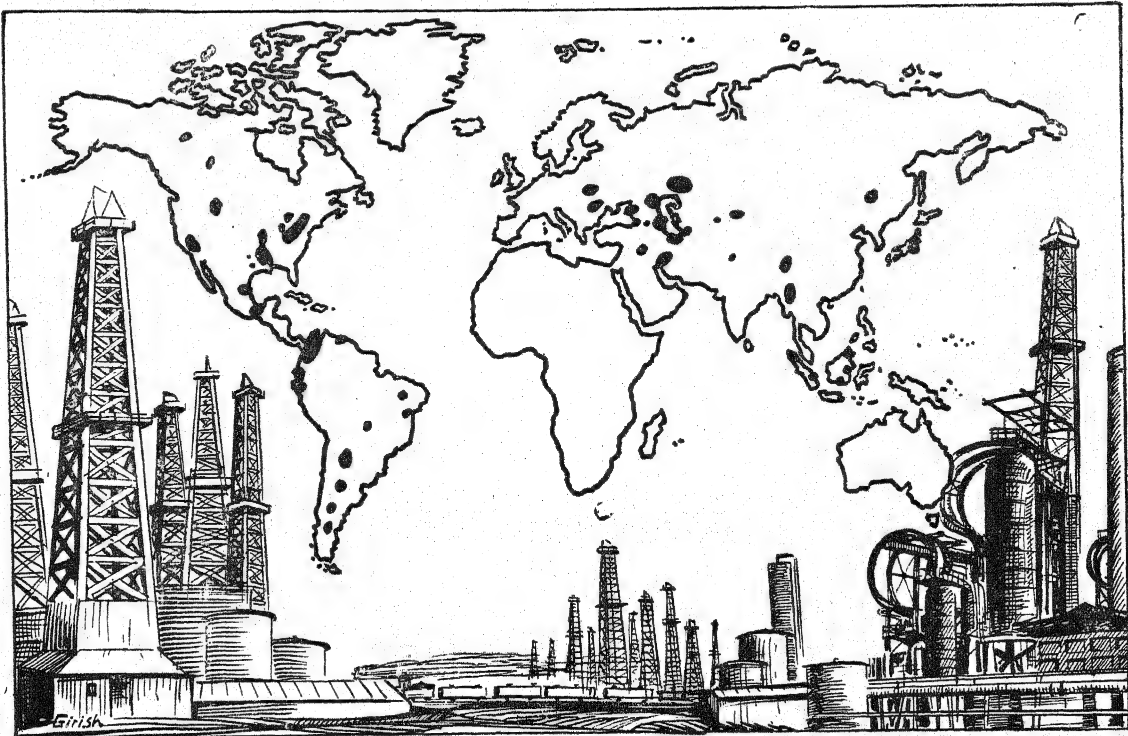
प्रचलित रीति से साधारण गहराई तक खोदे हुए कुएँ पर डेरिक खड़ी करके पहले केबुल-तार को एक विशालकाय रील से खोलकर उससे बँधे हुए सिन्कर बार को कुएँ में इतनी दूर तक लटकाते हैं कि ऑगर बार में लगाई हुई बर्मी की नोक कुएँ के तले पर जा टिकती है। अब केबुल को तानकर इसे टेम्पर स्क्रू के क्लैम्प में कस देते हैं। तदुपरान्त इंजिन की शक्ति से शहतीर को ढेंकी की भाँति ऊपर-नीचे चलाते हैं। सिन्कर बार, ऑगर बार तथा उसमें लगी हुई बर्मी बार-बार ऊपर उठकर अपने ही बोझ से नीचे की चट्टान पर गिरकर उस पर चोट करती है। बर्मी क्रमशः ज्यों-ज्यों नीचे की ओर बढ़ती है, ऊपर टेम्पर-स्क्रू के पास बैठा हुआ मिस्त्री त्यों-त्यों टेम्पर-स्क्रू को धीरे-धीरे नीचे खिसकाता चला जाता है ताकि हर बार नीचे गिरने पर बर्मी तले की चट्टान पर पूरे ज़ोर के साथ चोट करे। जब बर्मी की नोक मन्द पड़ जाती है, तब मिस्त्री इंजिन को शहतीर के सम्बन्ध से अलग कर देता है, तथा टेम्पर-स्क्रू के क्लैम्प से केबुल को छुड़ा देता है, और तब इंजिन की सहायता से रील पर केबुल-तार को लपेटना शुरू करता है। फलस्वरूप सिन्कर बार, ऑगर बार आदि सभी यंत्र कुएँ के बाहर उठ आते हैं। केबुल को डेरिक के सिरे पर लगी हुई एक गिर्री पर चढ़ाकर खींचते हैं, ताकि कुएँ के भीतर के विभिन्न पुर्ज़े सीधे ऊपर को खिंच सकें। बर्मी की धार को पुनः तेज़ करने के बाद उसे ऑगर बार में पुनः लगा देते हैं, और कुएँ की खुदाई की क्रिया फिर पूर्ववत् जारी हो जाती है। टेम्पर - स्क्रू की सारी लम्बाई जब नीचे को खिसकाई जा चुकी होती है, तब इसे पुनः ऊपर उठाने के पहले क्लैम्प से केबुल को अलग करना पड़ता है। इंजिन को बन्द करके रील को ढीला कर टेम्पर-स्क्रू को पेंच पर उलटा घुमाकर ऊपर चढ़ा लेते हैं, और तब क्लैम्प में केबुल को पहले की अपेक्षा ज़रा ऊपर को पकड़ते हैं, इस प्रकार कि उससे लटकते हुए यंत्रों से संबद्ध बर्मी कुएँ की वर्तमान गहराई के तल को छूती रहे। और अब पुनः इंजिन द्वारा शहतीर ऊपर-नीचे चलाई जाती है।

कुएँ की खुदाई का काम महीनों तक एक-सा चलता रहता है। कम-से-कम एक इंजीनियर और एक मिस्त्री को चौबीसों घंटे वहाँ यंत्रों के परिचालन के लिए मौजूद रहना होता है। एक साथ इनकी बारह घण्टे की ड्यूटी होती है। पृथ्वीतल की चट्टान से लगभग ३५० फ़ीट नीचे तक, जहाँ तक ऊपरी स्तर का पानी मिलता है, कुआँ क़रीब ८ इंच चौड़े व्यास का खोदा जाता है, और इतनी दूर तक

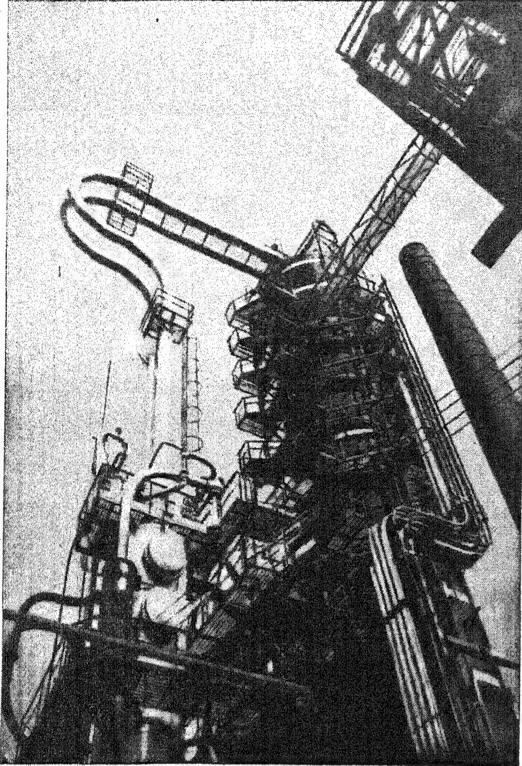
इस्पात की मजबूत नली गला दी जाती है ताकि कुएँ की दीवाल सुरक्षित रहे। तदुपरान्त सूराख़ पतला होता जाता है। अब ५$\frac{5}{8}$ इंच के व्यास की अन्य एक नली पहलीवाली नली में पुख़्ता जोड़कर नीचे गलाते हैं। इस नली के निचले छोर पर तेज़ धार बनी होती है। कुएँ की दीवाल सँभालनेवाली बाह्य नली के बीच में ऊपर से नीचे तक एक और नली गलाते हैं, जिसका व्यास केवल २ इंच होता है। इसी नली के रास्ते पेट्रोलियम बाहर निकलता है। इस नली को इच्छानुसार बाहर भी निकाल सकते हैं, किन्तु बाहरवाली नली तो सदैव के लिए कुएँ में लगा दी गई होती है।

खुदाई समाप्त हो जाने के बाद कुएँ की तह को टारपीडो द्वारा तोड़ते हैं। लगभग २५ गैलन नाइट्रो-ग्लीसरीन (एक शक्तिशाली विस्फोटक द्रव) टिन के कनस्टर में रखकर अत्यन्त सावधानी के साथ नीचे पेंदे में पहुँचाया जाता है और वहाँ पर चोट पहुँचाकर इसे विस्फोट कराते हैं। थोड़ी देर पश्चात् इस विस्फोट के फलस्वरूप एक गड़गड़ाहट का शब्द ऊपर को पहुँचता है और तुरन्त ही पीले रंग का पेट्रोलियम फ़ौव्वारे के रूप में कुएँ से बाहर निकलने लगता है। इस उद्गार में पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े तथा कनस्टर के अवयव भी लगभग १०० फ़ीट ऊँचे आकाश में उड़ जाते हैं। इस डेढ़-दो हज़ार फ़ीट गहरे कुएँ की तह में पेट्रोलियम के ऊपर एक तो यूँ ही गैस का प्रबल दबाव रहता है, और फिर नाइट्रो-ग्लीसरीन के विस्फोट द्वारा उत्पन्न हुई गैसें उस थोड़े-से स्थान में इतना अधिक दबाव उत्पन्न करती हैं कि उनके वेग से तह की चट्टानें बुरी तरह आन्दोलित हो उठती हैं और विविश हो पेट्रोलियम ऊपर को ज़ोर के साथ उफ़न पड़ता है। बाकू में विस्फोट के उपरान्त एक कुएँ से पेट्रोलियम इतने ज़बर्दस्त वेग से निकला था कि ऊपर की डेरिक आदि सब उखड़ गई थी और २४ घण्टे के अन्दर कुएँ के आसपास ६ फ़ीट मोटी रेत की तह जम गई थी, जिसके ऊपर कई हज़ार टन पेट्रोलियम बह रहा था।

नए कुओं से आरम्भ में कुछ काल तक पेट्रोलियम अपने आप नीचे की गैस के ज़ोर से निकलता रहता है। ऐसे कुएँ 'फ़्लश कुएँ' कहलाते हैं। फ़्लश कुओं की पेट्रोलियम की निकासी पहले तो बढ़ती है, फिर धीरे-धीरे घटने लगती है। बाद में पेट्रोलियम को कुएँ के अन्दर



संसार के तेल-क्षेत्र—(नक़्शे में काले निशानों द्वारा मुख्य-मुख्य पेट्रोलियम उत्पादन-क्षेत्र सूचित किए गए हैं)।



रूमानिया की एक 'रिफ़ाइनरी' या पेट्रोलियम साफ़ करने के कारख़ाने का दृश्य। देखिए, यंत्रों और नलों का कैसा जंजाल फैला हुआ है।

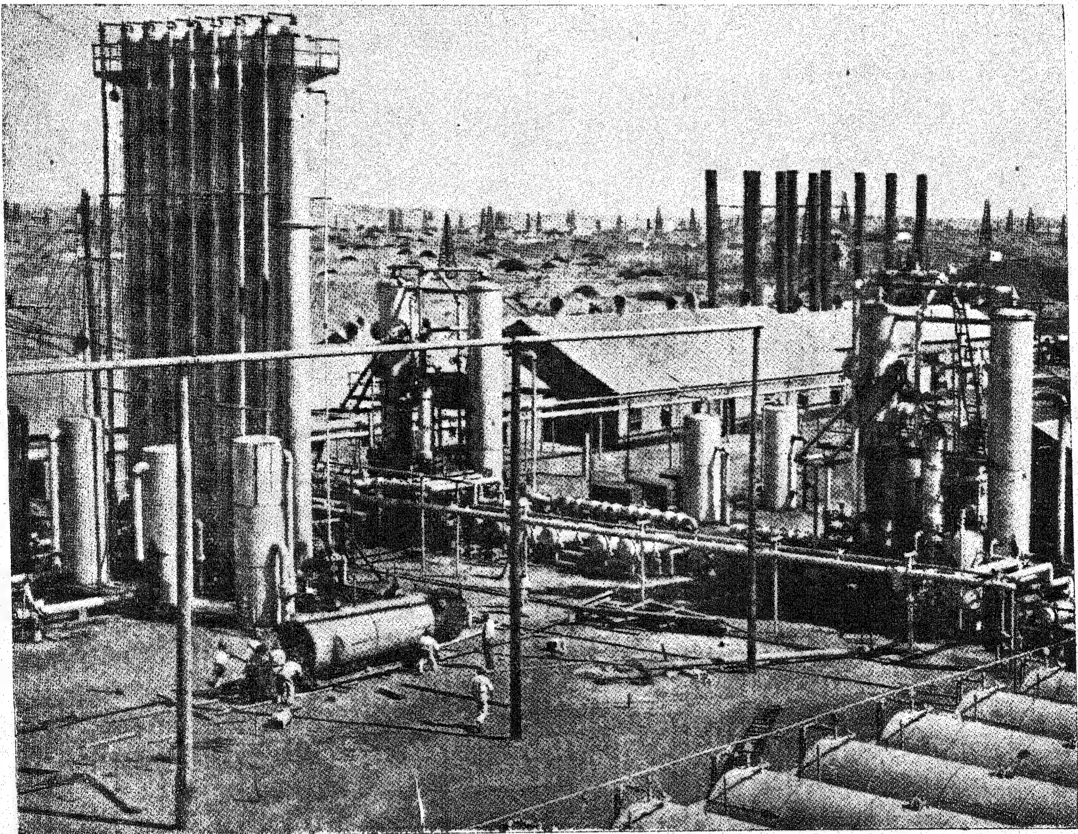
से पम्प करके निकालना होता है। लगभग सभी पुराने कुओं में पम्प लगा रहता है। फ़्लश कुओं की औसत निकासी प्रतिदिन ७.४ बैरेल होती है और पम्पिंग कुएँ की निकासी प्रतिदिन एक बैरेल के लगभग। अतः नए कुओं से ही पेट्रोलियम की अधिकांश मात्रा हमें प्राप्त होती है। अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र में रॉकी पर्वत-श्रेणी के पूर्वीय इलाक़ों के कुओं की निकासी प्रतिदिन ३६ बैरेल के लगभग है। साधारणतः पेट्रोल के कुएँ पाँच वर्ष तक चालू रखे जाते हैं। इस अवधि में तेल की कम्पनी को कुएँ से काफ़ी मुनाफ़ा हो चुका होता है, साथ ही कुआँ भी व्यावसायिक दृष्टि से एक प्रकार से सूख-सा जाता है। पेट्रोलियम के कुछ प्रदेशों में कुएँ आठ-दस वर्ष तक भी चालू रखे गए हैं; किन्तु ऐसे कुएँ गिनती के दो-चार ही निकलते हैं।

कुएँ से पेट्रोलियम को साफ़ करने के लिए फ़ैक्टरियों तक ले जाने के लिए पहले लकड़ी के पीपे काम में लाये जाते थे। इन पीपों की भीतरी सतह पर सरेस की गाढ़ी पुताई कर दी जाती थी ताकि पेट्रोलियम टपककर बाहर न निकल सके। किन्तु पीपों में भरकर पेट्रोलियम को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में ख़र्च अधिक पड़ता था, अतः अब सैकड़ों मील लम्बे पाइप बिछाकर उन्हीं के द्वारा पेट्रोलियम को कुओं से सीधे साफ़ करनेवाली फ़ैक्टरियों तक भेजते हैं। प्रत्येक कुएँ का पेट्रोलियम पहले वहीं पर स्थित टङ्की में एकत्रित होता है। यह टङ्की काफ़ी ऊँची बनाई गई होती है। इस टङ्की से दो इंच व्यासवाली नली के सहारे पेट्रोलियम अपने आप बहकर निकट के पम्पिङ्ग स्टेशन की टङ्की में पहुँचता रहता है। यहाँ से शक्तिशाली इंजिन द्वारा पम्प करके यह मुख्य पाइप-लाइन में भेजा जाता है। मुख्य पाइप का व्यास ६ इंच होता है। पानी ले जानेवाले पाइप की भाँति एक पाइप दूसरे से पेचदार छल्लों द्वारा जुड़ा रहता है। पाइप बिछाते समय सदैव चौरस और ढालू भूमि तो मिलती नहीं, अतः पाइप को ऊँची-नीची भूमि पर से ले जाना होता है। कोई भी द्रव स्वयं ऊँचाई पर नहीं चढ़ सकता, अतः पाइप लाइन पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर पम्प लगाए जाते हैं जो पेट्रोलियम को पम्प करके आगे भेजते हैं। सैकड़ों मील लम्बी पाइप-लाइन बिछाने का काम भी कम दुस्तर नहीं है। इस काम में इञ्जीनियरों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए इराक़ के पेट्रोलियम को साफ़ करने के लिए उसे त्रिपोली और हैफ़ा के बन्दरगाहों तक पाइप-लाइन के सहारे ले जाने की व्यवस्था की गई है। इस उद्योग को सफल बनाने के लिए निर्जन प्रान्तों से होकर कई हज़ार मील लम्बी पाइप-लाइन बिछानी पड़ी थी। कुल दस हज़ार मज़दूर, मिस्त्री तथा इञ्जीनियरों ने इस काम को पूरा किया था। ग्रीष्म ऋतु के दिनों में यहाँ असह्य गर्मी पड़ती थी तथा जाड़े की ऋतु में रात को इतनी ठण्ड पड़ती कि पानी तक जमकर बर्फ़ बन जाता था। इन प्राकृतिक अड़चनों के अतिरिक्त वहाँ के ख़ानाबदोश निवासी भी अवसर पाते ही लूट-मार मचाते थे। अतः डेरे-तंबू के सामान आदि की रक्षा करने के लिए प्रायः हथियारबन्द सन्तरियों का पहरा रखना पड़ता था। यह पाइप-लाइन एक सिरे से दूसरे सिरे तक भूमि के ६ फ़ीट नीचे गड़ी हुई है। इस बात का भी भय था कि रेतीली भूमि के स्तरमय पदार्थ

लोहे के पाइप को खदर डालेंगे, अतः पाइप पर एक सिरे से दूसरे तक 'एसबेस्टस' की एक पतली तह लपेटी गई है।

कुएँ से जिस दशा में पेट्रोलियम निकलता है, वह व्यवसाय की दृष्टि से किसी प्रयोजन का नहीं होता। अतः काम में लाने के पहले इसे साफ़ कर लेना आवश्यक होता है। कच्चे पेट्रोलियम को साफ़ करके उससे पेट्रोल, मिट्टी का तेल (केरोसिन), इंजिन में जलानेवाला तेल (फ़ुएल ऑयल), लुब्रिकेटिंग ऑयल (मशीन की धुरी और पुर्ज़ों में देनेवाला तेल), पैराफ़िन, मोम और तारकोल आदि कई वस्तुएँ प्राप्त करते हैं।

पेट्रोलियम को साफ़ करने का सिद्धान्त मोटे तौर पर वही है जो खारे पानी को उबालकर उसके वाष्प का पुनः द्रवीकरण करके मीठा पानी प्राप्त करने के लिए काम में लाया जाता है। 'रिफ़ाइनरी' (पेट्रोलियम साफ़ करने के कारख़ाने) में से कच्चे पेट्रोलियम को टङ्की में एक बड़ी देगची में गर्म करने के लिए लाते हैं। इस देगची को 'स्टिल' कहते हैं। पेट्रोलियम में विभिन्न तापक्रमों पर उबलनेवाले अनेक द्रव मौजूद होते हैं। अतः सावधानी के साथ गर्म करने पर सबसे पहले पेट्रोल (गैसोलिन) गैस रूप में परिणत होता है। धातु की एक टेढ़ी नली द्वारा यह एक ऐसे बर्त्तन में पहुँचाया जाता है, जो निरन्तर ठण्डा किया जाता रहता है। ठंढ पाकर पेट्रोल इस बर्त्तन में पुनः द्रव रूप धारण कर लेता है। लगभग २००° फ़ा० से ४००° फ़ा० तक पेट्रोलियम का समूचा पेट्रोल बाहर निकलकर अलग द्रव रूप में इकट्ठा हो जाता है। अवश्य ही इस प्रकार से प्राप्त किया गया पेट्रोल विभिन्न श्रेणी के पेट्रोल का मिश्रण होता है। साधारण मोटरकार के इंजिनों में इस प्रकार का पेट्रोल बिना किसी अड़चन के काम में लाया जा सकता है। किन्तु इस पेट्रोल को भी दुबारा उबालकर इसमें उपस्थित विभिन्न श्रेणी के पेट्रोल को एक दूसरे से अलग कर सकते हैं। 'स्टिल' के पेट्रोलियम में से पेट्रोल के

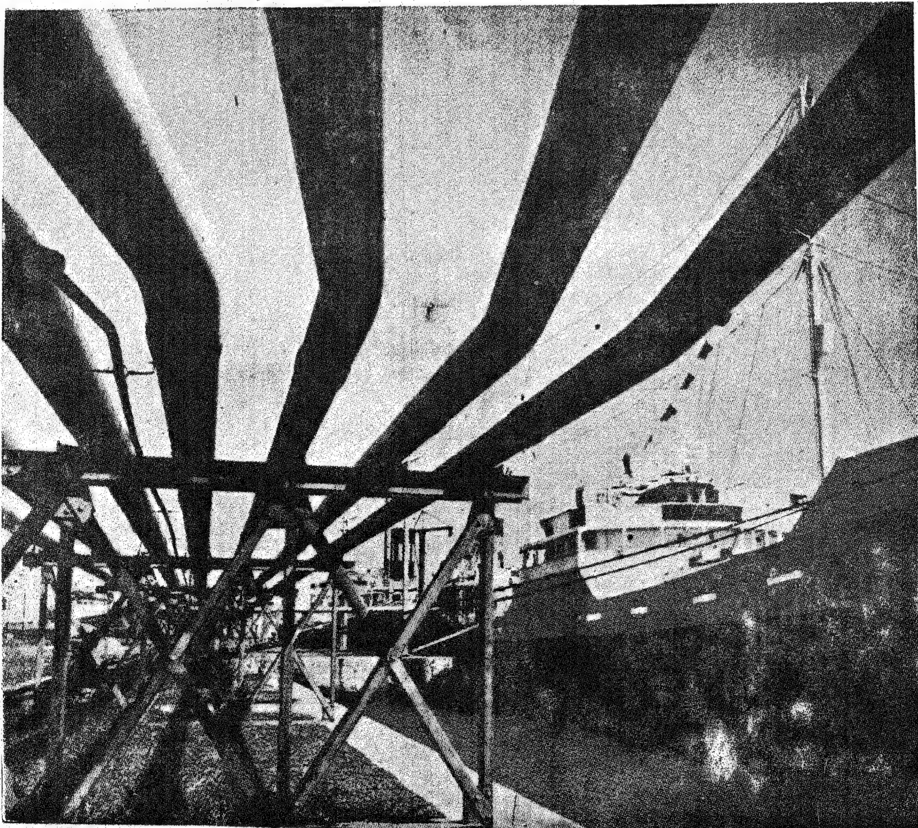


पीरू (दक्षिणी अमेरिका) के एक तेल-क्षेत्र का दृश्य। सामने एक 'रिफ़ाइनरी' या तेल साफ़ करने का कारख़ाना है।

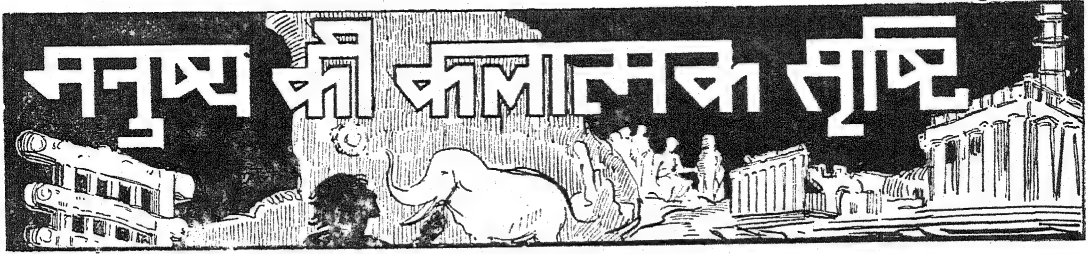
बिल्कुल बाहर निकल जाने पर 'स्टिल' का तापक्रम धीरे-धीरे ४००° फ़ा० से ५७५° फ़ा० तक बढ़ाते हैं। इस दौरान में हमें केरोसिन (मिट्टी का तेल) प्राप्त होता है। तदुपरान्त 'स्टिल' का तापक्रम ५७५ फ़ा० तक बढ़ाने पर स्टिल में कुल पेट्रोलियम का लगभग ३६ प्रतिशत भाग एक गाढ़े तरल द्रव के रूप में बच रहता है, जो फ़ुएल ऑयल कहलाता है। यह अनाज पीसने की मशीनों तथा डिज़ेल ऑयल इंजिनों में जलाने के लिए ईंधन की तरह काम में लाया जाता है।

केरोसिन को बाज़ार में भेजने से पूर्व विभिन्न रीतियों द्वारा स्वच्छ करना पड़ता है, साथ ही इसे रंगहीन भी बनाना पड़ता है। साधारणतः इसे गाढ़े गन्धक के तेज़ाब के साथ मिलाकर खूब हिलाते हैं। इस क्रिया में केरोसिन में मौजूद गन्धक अलग हो जाता है, साथ ही केरोसिन का रंग भी साफ़ हो जाता है। तेज़ाब के साथ हिलाने के बाद उस बर्त्तन के पेंदे में गाढ़ा-गाढ़ा द्रव नीचे बैठ जाता है, जिसमें केरोसिन की तलछट इकट्ठी हो जाती है। इसे अलग कर लेते हैं। रूमानिया में अब गन्धक के तेज़ाब के स्थान पर द्रव सल्फर-डाइ-ऑक्साइड का प्रयोग किया जाता है। इस तरीक़े में ख़र्च कम बैठता है, क्योंकि सल्फर-डाइ-ऑक्साइड पुनः पृथक् हो जाती है और इस प्रकार उसे बार-बार काम में ला सकते हैं।

'स्टिल' में बचे हुए पदार्थ को एक विशेष रीति द्वारा पुनः गर्म करके उससे 'लुब्रिकेटिङ्ग ऑयल' तथा मोम प्राप्त करते हैं। इसी मोम से मोमबत्तियाँ बनायी जाती हैं। इस गाढ़े द्रव को ख़ूब ऊँचे तापक्रम तक गर्म करने पर इसमें से लुब्रिकेटिङ्ग ऑयल तथा मोम गैस बनकर अलग हो जाते हैं, जिन्हें ठण्डा करके द्रव रूप में परिणत कर लेते हैं। किन्तु इस तेल में मौजूद मोम को अलग करना आवश्यक होता है, अन्यथा अधिक ठण्ड पड़ने से मशीन के पुर्ज़ों में डाले गए अशुद्ध लुब्रिकेटिङ्ग ऑयल की मोम जमकर ठोस बन जायगी और मशीन के परिचालन में बाधा आ उपस्थित होगी। मोम को लुब्रिकेटिङ्ग ऑयल से अलग करने के लिए तेल को ख़ूब ठण्डा करते हैं। इस क्रिया में मोम जमकर ठोस बन जाती है और इस प्रकार इसे आसानी के साथ अलग कर लेते हैं।



पेट्रोल एवं मिट्टी के तेल का निर्यात करनेवाले एक बंदरगाह पर रिफ़ाइनरी से आनेवाले पाइपों का जमघट—इन्हीं से तेल टैंकर जहाज़ों में भरकर विदेशों को भेजा जाता है।



जापान की कला—(२) चित्रकला

पिछले लेख में जापानी कला का एक अंश—भास्कर्य और स्थापत्य—के संबंध में कुछ जानकारी आप पा चुके हैं। आइए, अब संक्षेप में जापानी चित्रकला के स्वरूप और विकास की रूपरेखा से आपको परिचित किया जाय, जो संसार के कला-क्षेत्र में अपना एक ख़ास स्थान रखती है।

यद्यपि स्पष्ट रूप से चीन ने जापानी कला और संस्कृति को प्रभावित किया है, तथापि एक-बारगी ही हमें इस नतीजे पर नहीं पहुँच जाना चाहिए कि जापानी कला में मौलिकता है ही नहीं, अथवा वह चीनी कलात्मक प्रतिभा की एक प्रशाखा-मात्र है। वस्तुतः युग-युग में जापानियों का इतिहास इस बात की गवाही देता रहा है कि दूसरों की ख़ूबियों को अपनाकर उनके संयोग से नवीन सृजन करना यह उनकी एक प्रधान जातीय विशेषता रही है। अभी हाल के ज़माने ही में उन्होंने पाश्चात्य व्यापारिक संगठन और उत्पादन के तरीक़ों को अपनाने में आश्चर्यजनक क्षमता दिखलाई है। यह सच है कि कला के क्षेत्र में जापान को आदि प्रेरणा चीन ही से मिली, किन्तु जापानी कला का बाद में जो विकास हुआ तथा जो गौरव उसने प्राप्त किया, उसका समस्त श्रेय चीन की दी हुई प्रेरणा को नहीं दिया जा सकता।

हम पहले ही बता चुके हैं कि मानवीय कला मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित की जा सकती है—एक तो वह जो प्रकृति की हूबहू नक़ल उतारना चाहती है, जिसमें कुदरत के रूपरंग और विविध पहलुओं की ज्यों-की-त्यों फ़ोटो की भाँति प्रतिलिपि अंकित करने का प्रयास किया जाता है; दूसरी वह जो प्रकृति के सौन्दर्य को आत्मसात् कर, उसे एक नया पुट देकर, अपनी आत्मा की सूक्ष्मतर अनुभूतियों के अनुरूप संयोजन, नवविधान एवं पुनर्निर्माण द्वारा नवीन सृष्टि करने में प्रवृत्त होती है। इन्हीं दो मुख्य श्रेणियों के अन्तर्गत कला की प्रायः सभी कलाओं का समावेश हो जाता है, फिर चाहे किसी का एक वर्ग की ओर अधिक झुकाव हो और दूसरी ओर कम, साथ ही प्रत्येक की अपनी निज की विशेषताएँ भी हो सकती हैं। साधारण बोलचाल में, प्रथम श्रेणी की कला यथार्थवादी (realistic) एवं दूसरी आदर्शवादी (idealistic) कहकर पुकारी जाती है और मोटे तौर पर कदाचित् यह कहना ग़लत न होगा कि मिस्र और टर्की के पश्चिम की समस्त कला यथार्थवादी है तथा इन प्रदेशों के पूर्व की ओर की प्रधानतया आदर्शवादी। पिछले अंकों में चीनी कला की लाक्षणिक विशेषताओं की व्याख्या करते समय हम यह बता चुके हैं कि इस आदर्शवाद का अर्थ यह कदापि नहीं रहा है कि प्राकृतिक रूपरेखा को बिल्कुल तिलांजलि दे दी गई हो अथवा प्राकृतिक दृश्य को तोड़-मरोड़कर विकृत कर दिया गया हो। बल्कि प्रकृति की सुखमाओं को बटोरकर, उन्हें आत्मा की सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति के अनुरूप एक नए ढंग से सजाने का ही उद्योग इस कला में निहित है। चीनी कला के चरम उत्थान-काल की कृतियाँ इस बात को भली भाँति प्रकट करती हैं कि उनमें केवल दृश्यचित्र के बाह्य निरूपण की अपेक्षा कलाकार की भावनामूलक अन्तर्दृष्टि को अधिक महत्त्व दिया गया है—उनका प्रयोजन यथार्थ में किसी बाह्य दृश्य विशेष का प्रत्याङ्कन करना न था, जितना कि किसी एक विशेष मनोभाव की अभिव्यक्ति करना। दूसरे शब्दों में इस प्रकार का चित्र प्रकृति के चुने हुए फूलों के एक गुलदस्ते जैसा नहीं, बल्कि कलाकार की अंतरात्मा के एक उभार जैसा होता था।

जापानी चित्रकला की विशेषताओं के बारे में सुदूर पूर्व की कला के जगत्विख्यात विशेषज्ञ, अन्यतम कला-

पारखी श्री लारेन्स बिनियन की निम्न सुंदर व्याख्या से अधिक सूत्रवत् विवरण अन्यत्र मिलना कठिन है। वह लिखते हैं:—

"जापानी चित्रकला में प्रकृति की छायाओं की नक़ल उतारने की एकदम अवहेलना की गई है। साथ ही उसमें न तो भास्कर्य जैसा प्रभाव लाने की ही कोशिश की गई, न चित्रित आकृतियों के समुचित स्पष्ट उभार की आवश्यकता पर ही अधिक ज़ोर दिया गया है। वह तो वस्तुओं के यथार्थ निरूपण के बजाय केवल संकेत द्वारा उनका चित्रांकन करना अधिक पसंद करती है। उसमें जिस दृष्टिकोण से काम लिया जाता है वह द्रष्टा की अनुभूति विशेष पर आश्रित होता है न कि दृश्य वस्तु के आकार-प्रकार पर। वस्तुतः उसका लक्ष्य बाह्य दृश्यचित्र की पूर्ण प्रत्याकृति उपस्थित करना नहीं होता, बल्कि उस दृश्य के कुछ महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट अंगों को चुनकर केवल उनके ही चित्रांकन द्वारा अपनी भावना की अभिव्यक्ति करना होता है। इस शैली में चित्रपट के उस भाग का भी जो कि बिल्कुल ख़ाली रहता है, चित्र के उद्देश्य की पूर्त्ति करनेवाले एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में उपयोग किया जाता है। यद्यपि जापानी कलाकार प्रकृति का बड़े मनोयोग के साथ अध्ययन करते हैं, किन्तु ऐसा करने में उनका उद्देश्य केवल यही होता है कि उनकी स्मरण-शक्ति ऐसी सध जाय कि जो चित्र उन्हें अंकित करना हो उसको अपने मन के कल्पनापट पर एक बार अच्छी तरह कल्पित कर लेने पर फिर उस मानसिक चित्र को एकदम सचाई के साथ हूबहू परदे पर अंकित करने में ज़रा भी कठिनाई न हो। वे लोग जीवन, गति, हावभाव, चरित्र सभी का ध्यानपूर्वक अध्ययन करते हैं, किन्तु ऐसा करते समय उनकी आँखें निरंतर इस बात की खोज में रहती हैं कि किस प्रकार इनका प्रयोग आलंकारिक रूप में किया जाय। उनकी चित्रकारी की शैली चीनी पद्धति का अनुसरण करती है। इनके भी माध्यम चीनी रोशनाई (Chinese Ink) तथा पानी में घुलनेवाले रंग ही होते हैं, जिनमें से प्रथम द्वारा अधिक से अधिक चटकीले गहरे काले से लेकर हलके धूमिल रजत वर्ण तक को सभी गहराई की छायाएँ (shades) अंकित की जा सकती हैं। रंगों में आवश्यकतानुसार कभी चावल का माँड़, तो कभी मछली का सरेस भी मिलाया जाता है। जापानी चित्र या तो केवल रोशनाई द्वारा चित्रित होते हैं, या यहाँ-वहाँ हलके रंगों द्वारा। अथवा कभी-कभी वे संपूर्णतया रंग-बिरंगे भी होते हैं। जिस चित्रपट पर ये अंकित होते हैं, वह या तो रेशम होता है या एक प्रकार का सोखनेवाला काग़ज़। अतः योरपीय तैल-चित्रों जैसी भड़कीली कोई वस्तु यहाँ देखने को नहीं मिल सकती। यहाँ तो हस्तलिपि (handwriting) की भाँति तूलिका द्वारा अंकित रेखाओं को भी कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना करनेवाला एक मूल्यवान् साधन माना जाता है। इसीलिए यहाँ के चित्रकार के लिए तूलिका द्वारा (न कि लेखनी द्वारा) लिपि-आलेख करने की दक्षता प्राप्त करना भी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता रहा है।

"आरंभिक युग में जापान में भित्ति-चित्रकारी (Frescoe painting) की भी प्रथा थी, परन्तु उतने बड़े पैमाने पर कभी नहीं जैसी चीन में। यहाँ के चित्र या तो 'काकेमोनो' (Kakemono) अर्थात् लटकानेवाली तस्वीरों के रूप में मिलते हैं, या 'माकीमोनो' (Makimono) अर्थात् जन्मपत्रियों की तरह आड़े लपेटे हुए लंबे चित्रपटों के रूप में, जो कभी-कभी बेहद लंबे होते हैं। इसके अतिरिक्त, जापान के कुछ सर्वोत्तम चित्र परदों (Screens) पर बने भी मिलते हैं, जो प्रायः छः बार तह किये हुए होते हैं। ये यदि रंगीन हुए तो उनकी पृष्ठभूमि प्रायः सुनहली या रजत-वर्ण की होती है। कुछ चित्र चौखटों में मढ़े हुए भी मिलते हैं और दूसरे लकड़ी की ऐसी तख्तियों पर बने हुए, जो अपने दराज़नुमा चौखटे में खिसकाई जा सकती हैं। काकेमोनो बढ़िया ज़रीनी कपड़े पर चढ़ाकर लपेटकर रक्खे जाते हैं और जब दिखलाना हुआ तो 'तोकोनोमा' (Tokonoma) नामक इसी काम के लिए बनाए गए एक प्रकार के आले या ताक में लटकाकर उनका प्रदर्शन किया जाता है।"

जापानी गृहों में एक बार में एक से अधिक चित्र प्रदर्शित नहीं किए जाते, जैसा कि हमारे अपने देश या अन्य देशों के दीवानख़ानों में रहते हैं। इसका कारण यह है कि जापानी, जो मानव स्वभाव के दक्ष पारखी होते हैं, यह धारणा रखते हैं कि कमरे में एक से अधिक चित्र होने पर दर्शक का ध्यान बँट जाता है जिससे उसके अंतस्तल में वह प्रगाढ़ शांति नहीं विराज सकती, जो कि कला की परख करने तथा उसका रसास्वादन करने के लिए इतनी अधिक आवश्यक है। जब तोकोनोमा में कुछ समय तक एक तस्वीर प्रदर्शित की जा चुकी होती है, तो

उसे हटाकर उसके स्थान में दूसरा चित्र लगा दिया जाता है, ताकि कोई भी आगन्तुक जब कभी उस घर में प्रवेश करे तो उसे सदैव कोई नवीन उल्लासजनक कलाकृति देखने का अवसर मिलता रहे। इस तोकोनोमा के समक्ष प्रायः एक पुष्पपात्र में कुछ चुने हुए फूल रक्खे रहते हैं, जो या तो वर्ण-भेद द्वारा आले के चित्र के सौंदर्य को निखारने में योग देते हैं या फिर उसके साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए उसकी शोभा बढ़ाते हैं। जापान में फूल-पत्तों की सजावट के काम को भी एक ऊँची कला का स्थान दिया गया है और केवल सूक्ष्मदर्शी सच्चे पारखी ही वहाँ की पँखड़ियों या पत्तियों की विशेष सजावट में निहित सूक्ष्म संकेतों का मर्म समझ सकते हैं। फूलों द्वारा सजावट की यह कला कुछ शताब्दी पूर्व अपनी चरमावस्था पर पहुँच गई थी और आज भी जापान में इसका प्रचार है। इसे वहाँ 'इकेबाना' (Ikebana) के नाम से पहचानते हैं।

जापानियों के मुख्य कला-विषय प्रायः चीनी कला-विषयों से सादृश्य रखते हैं। किन्तु जहाँ चीनी कलाकार प्रगाढ़ शांति के चित्रण में ही आनन्दानुभव करते हैं, वहाँ जापानियों ने हलचल-भरे जीवन के



जापानी चित्रकला का एक नमूना

यह चित्र काष्ठ-चित्रों के प्रचलन से पहले के युग का है, किन्तु इसमें आगे चलकर लोकप्रिय बननेवाले उक्त प्रकार के चित्रों की सरल शैली का पूर्वाभास मिलता है। इसके चित्रकार का नाम है कात्सुकावा और चित्रित विषय है 'एक सुंदरी'।

चित्रण को ही अधिक महत्त्वपूर्ण और आनन्ददायक माना है। चीनी लोग मननशील और सहज जीवन के उपासक होते हैं। इसके विपरीत जापानी मूलतः एक योद्धा जाति के लोग हैं, अतएव उन्हें मध्यकालीन युग के सुदीर्घ गृहयुद्ध के ज़माने के अपने देशवासियों के शौर्य और साहसिक कार्यों में चित्रण के लिए मनचाही सामग्री दिखाई दी। उन्होंने बहुत बड़े आकार के चित्र बनाने की ओर अधिक ध्यान न दिया। इसका कारण यह था कि उनमें सुघड़ और सुव्यवस्थित रूप से संक्षेप में किसी भी कार्य को करने की स्वभावजन्य प्रवृत्ति रही है।

किसी भी योद्धा और ज़िन्दादिल जाति में जो उल्लास का भाव पाया जाता है वही उसकी कला में भी विशिष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है। जापानियों के बारे में भी यह सच है। बल्कि उनकी हद दर्जे की हस्त-लाघवता ही जापानी कलाकारों के लिए कदाचित् सबसे अधिक घातक भी साबित हुई है—उनकी तूलिका की पैंतरेबाज़ी के मारे चित्र के आंतरिक महत्त्व की प्रायः हत्या होती रही है। फिर भी, यह स्वीकार करना होगा कि सदियों से जापानियों में कला-संबंधी स्वभावजन्य उच्च सुरुचि का एक भाव रहा है, जो केवल प्रतिभाशाली लोगों में ही पाया जा सकता है। संभवतः अन्य किसी भी देश में कलात्मक सुरुचि का विकास इतने व्यापक पैमाने पर नहीं हुआ है।

यह एक अचरज की बात है कि जिन जापानी छापे के रंगीन चित्रों की विदेशों में इतनी अधिक प्रशंसा की जाती है, उनको स्वयं जापानवाले कला की दृष्टि से बहुत महत्त्व नहीं देते। वे इन छापे के चित्रों को घटिया क़िस्म की कृतियाँ समझते हैं, जिन्हें स्थायी सम्मान नहीं दिया जा सकता तथा जो निम्न कोटि की जनता की तुष्टि के लिए ही बनाई गई हैं। १८वीं सदी के जो प्रसिद्ध छापे के रंगीन चित्र मिलते हैं, वे श्रमजीवी कारीगर वर्ग के लोगों द्वारा महज़ अपनी ही श्रेणी की जनता के लिए बनाए गए थे। पर स्वयं अपने देश के कला-पारखियों द्वारा हेय समझे जानेवाले यही चित्र योरपियनों द्वारा, जो कि संसार भर की कला से परिचित हैं, अनुपम चित्रकारी के चमत्कारपूर्ण नमूनों के रूप में प्रशंसित किए गए हैं। इन अद्भुत कलाकृतियों के मुक़ाबले की कोई चीज़ चीन के पास नहीं है। और न, जहाँ तक हमारी जानकारी है, चीनवालों ने जापान के महान् कलाविदों द्वारा चित्रित उन भव्य पर्दे के चित्रों जैसी ही कोई चीज़ कभी पैदा की, जिनकी गणना जापानी चित्रकला की सबसे अधिक गौरवास्पद कृतियों में होती है। यद्यपि साधारणतः जापानी कला में वह गहराई नहीं पाई जाती जो चीनी कला में है, फिर भी वहाँ के आरंभिक धार्मिक चित्रों में इस श्रेणी की भी अनेक उच्च कोटि की कृतियाँ मिलती हैं, और गतिशील एवं प्रचण्ड हलचल के चित्रण में तो मध्यकाल के जापानी कलाकार एकदम बेजोड़ हैं। इसके बाद के युगों की अर्थात् उत्तरकालीन कला में एक प्रकार के विनोदपूर्ण उल्लास और सूक्ष्म निदर्शन का भाव अधिक मिलता है। वस्तुतः जापानी चित्रकला की तह में निरंतर १२०० वर्षों की एक अटूट परंपरा निहित है, जो लगातार नूतन संस्कारों द्वारा अनुप्राणित होती रही है और आज दिन भी जो बहुत-कुछ सजीव बनी हुई है। किन्तु चूँकि उसकी लगभग सभी सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ स्वदेश ही में छिपी पड़ी हैं, अतएव इस क्षेत्र में उसकी साधना की वास्तविक परिधि से बाहरी दुनिया अपरिचित-सी ही रही है और इसीलिए उन्हें समुचित आदर नहीं मिल पाया है।

छठी शताब्दी ईस्वी में कोरिया और चीन के रास्ते जापान में भारतीय बौद्ध मत का प्रवेश हुआ, और यह कहा जा सकता है कि जापानी चित्रकला का इतिहास भी उस देश में बौद्ध मत के इस आगमन के साथ ही शुरू होता है। जापानी चित्रकारी की प्राचीनतम शैली निश्चित रूप से चीनी ढंग की है—वह उस चीनी-बौद्ध शैली से मिलती-जुलती है जो सर ऑरेल स्टाइन द्वारा चीनी तुर्किस्तान में तुर्फ़ान नामक स्थान में खोजे गए बौद्ध भित्ति-चित्रों में देखने को मिलती है। पर जापान के आदि बौद्ध युग की सर्वोत्तम कृतियाँ नारा के सुविख्यात होरियूजी के मंदिर में देखने को मिलती हैं, जिनका पिछले प्रकरण में उल्लेख किया जा चुका है। इन चित्रों पर बहुत-कुछ चीन के टाङ् युग की भित्तिचित्रकला का प्रभाव दृष्टिगत होता है और कुछ विशेषज्ञों ने तो यहाँ तक कहा है कि संभवतः वे कोरिया के कलाकारों की रचना हों, जिन्होंने चीन में शिक्षा-दीक्षा पाई थी। कुछ भी हो, भारतीय दृष्टि में तो जापान के ये बचे-बचाए आदिकालीन बौद्ध चित्र बहुत-कुछ अजन्ता के भित्तिचित्रों की याद दिलाते हैं। उनकी भावभंगी, मुद्रा, विन्यास, रंग, विषय, शैली सब-कुछ अजन्ता के सदृश है। निश्चय ही बाद को यदि कभी अनुसंधान होगा तो नारा और अजन्ता की कलाओं में अवश्य पारस्परिक घनिष्ठ संबंध स्थापित किया जा सकेगा।

आठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जापान की राजधानी नारा से हटाकर कियोटो ले जाई गई। इस प्रकार जिस नवीन युग का उदय हुआ उसमें दो महान् चित्रकार सामने आए—प्रथम प्रसिद्ध महन्त-कलाकार कोबो और दूसरा 'कोसे चित्र-प्रणाली' का जन्म-दाता कानाओका। दुर्भाग्यवश कानाओका की कोई भी कृति काल के निर्दय प्रहारों तथा मनुष्य की शिल्प-विध्वंसकारी प्रवृत्तियों के प्रकोप से न बच सकी, फिर भी यह कहा जाता है कि वह एक सर्वतोमुखी प्रतिभा का कलाकार था, जो बौद्ध विषयों के साथ-साथ दैनिक सांसारिक जीवन, पुष्प, पशु-पक्षी आदि विविध विषयों का सुंदर चित्रण किया करता था।

९वीं शताब्दी के अंतिम चरण से १४वीं शताब्दी तक की कालावधि में जापान का चीन के साथ संपर्क एक प्रकार से बिल्कुल टूट-सा गया था। इन दिनों स्वयं अपनी ही दुनिया के घेरे में घिरा हुआ जापान एशियाई महाद्वीप से प्राप्त सांस्कृतिक निधि को आत्मसात् करने, साथ ही अपनी निजी प्रतिभा के अनुसार अपनी भावनाओं का विकास करने में तल्लीन रहा। ११वीं शताब्दी के आरंभ होते-होते एक सुनिश्चित जापानी चित्रशैली का प्रादुर्भाव हो चुका था। इन्हीं दिनों जापानी कला-क्षेत्र में तोबा सोजो का नाम सामने आया। तोबा सोजो वास्तव में तो एक धर्माधिकारी या राज-पुरोहित था, किन्तु कलाकार के रूप में उसकी ख्याति के आगे उसके धार्मिक उच्च पद की गौरव-गरिमा ढक-सी गई। तोबा सोजो सबसे अधिक याद दिया जाता है मेंढक, बंदर आदि के उसके उन सजीव व्यंग-चित्रों के लिए जिनमें तत्कालीन धर्ममंदिरों या विहारों के अपने साथियों का उसने ख़ूब मज़ाक़ उड़ाया है। इस दृष्टि से हम उसे 'मिकी माउज़' (Mickey Mouse) आदि आधुनिक विनोदी व्यंगचित्रों के निर्माता वाल्ट डिज़नी का कला के क्षेत्र में आदि पुरखा मान सकते हैं। यह



जापानी कला की रेखाङ्कन-शक्ति का एक और उत्कृष्ट उदाहरण

यह ताओ युआन मिङ् नामक कवि का चित्र है। चित्रकार का नाम था गांकू। चित्र में कवि के पैरों का जूते के लिए नाप लेने का दृश्य है। विशिष्ट भाव-प्रदर्शन के लिए रेखाओं के प्रौढ़ प्रयोग पर ध्यान दीजिए।

कलाकार अपने ज़माने में इतना अधिक प्रख्यात हो चुका था कि आज तक जापान में व्यंग-चित्रण-कला उसी के नाम पर 'तोबा ये' (Tobaye) कहलाती है। इस युग की राजसी शैली का नमूना हमें ताकायोशी के चित्रों में मिलता है, जिसने ११वीं शताब्दी के आरंभ में श्रीमती मूरासाकी द्वारा लिखित 'गेन्जी मानोगातारी' नामक सुप्रसिद्ध जापानी उपन्यास के लिए पहलेपहल चित्र बनाए थे। इस कलाकार की कृतियों में हमें 'तोसा प्रणाली' की उस पूर्णतया विकसित शैली का सबसे अधिक भव्य और मौलिक स्वरूप देखने को मिलता है जिसमें कि पुरातन 'यामातो'* परंपरा इतने अधिक प्रखर रूप में सुरक्षित रहने को थी। उत्तरकाल की कला में यथार्थतः चीनी प्रभाव से मुक्त जो कुछ भी विशुद्ध जापानी ढंग की चित्रकारी मिलती है, उसका मूल इन्हीं दिनों बोए गए बीजों में पाया जाता है। इस युग की शैली पर चीनी अभिव्यंजनावाद की ज़रा भी छाया नहीं है। १२वीं शताब्दी के मध्यकाल के लगभग तायरा और मिनामोतो नामक शक्तिशाली कुलों की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता के फलस्वरूप जापानियों का गृहयुद्ध छिड़ गया, जिसमें वे लंबे समय तक उलझे रहे। अंत में मिनामोतो वंश को विजय मिली और उसके नेता योरीतोमो ने 'शोगुन' की उपाधि धारणकर अपनी राजधानी हटाकर कामाकुरा नामक स्थान में प्रस्थापित की। आज दिन यह स्थान बाद को निर्मित की गई अमिताभ बुद्ध की काँसे की भीमकाय प्रतिमा के लिए संसार भर में मशहूर है। कामाकुरा-युग के चित्रों में तत्कालीन राजनीतिक अशान्ति की स्पष्ट छाया दिखाई देती है। जिस शैली में तोबा-सोजो ने कमाल कर दिखाया था, तूलिका के झटके मात्र से थोड़े में ज़ोरदार प्रभाव उत्पन्न करने तथा आकृतियों में एक सजीव उल्लास का भाव भर देनेवाली उसी शैली का प्रयोग अब युद्ध की हलचलों के दृश्य चित्रित करने के लिए किया गया। इस युग के सबसे महान् कलाकार थे मित्सुनागा, नोबुज़ाने और किओन। इनमें किओन द्वारा निर्मित्त गृहयुद्ध के ओजपूर्ण माकीमोनो चित्र अपनी नाटकीय रचना, गति-निदर्शन की तड़पन, क्रियात्मक शक्ति के ओज एवं आश्चर्यजनक रचना-चातुर्य के लिए संसार भर की कला के क्षेत्र में बेजोड़ माने जाते हैं।

* **'यामातो' जापानियों की बोली में उनके अपने देश का प्राचीन नाम है, जैसा कि वर्त्तमान समय में वे उसे 'निप्पॉन' के नाम से पुकारते हैं।**

इसके बाद के युग में, जो जापानी इतिहास में आशिकागा-युग के नाम से पुकारा जाता है, एक बार फिर चीनी प्रभाव ज़ोर पकड़ता दिखाई दिया। १५वीं शताब्दी तक आते-आते जापानी विचारधारा ज़ेन-बौद्ध धर्म के संसर्ग से पूर्णतया परिवर्त्तित हो गई। कामाकुरा-काल के गृहयुद्ध के ज़माने में ज़ेन(=ध्यान) मत के विचारों ने क्रमशः सामुराई नामक भद्र वर्ग, छोटे अमीरों के वर्ग तथा पुरोहित वर्ग सभी पर अपना प्रभाव जमा लिया था। इस मत के प्रतिपादक धार्मिक क्रिया-कलाप संबंधी आडंबर, मूर्त्ति-पूजा एवं शास्त्रीय रूढ़ियों से घृणा करते थे। उनका आधार था ध्यान द्वारा अपने अंतराल में स्थित परम तत्त्व के साथ मौन भाव से योग स्थापित करना। इस मत से उत्तर सुङ्काल की चीन की कला को प्रधान रूप से प्रेरणा मिली थी, अतएव जापानवाले अब इन्हीं दक्षिणी सुङों की ज़ेन प्रभाव से युक्त कला-कृतियों की ओर मुड़े और इस नए पुनरुत्थान के हेतु सर्वोच्च अनुकरणीय आदर्शों के रूप में उन्होंने हुसिया कुई और मायुआन जैसे प्राकृतिक दृश्यचित्रों के महान् चीनी कलाकारों को अपनाया। पुनः राजधानी कामाकुरा से हटाकर कियोटो को ले जाई गई और उठती हुई पीढ़ी की प्रतिभा अधिकाधिक चीनी शैली की ओर आकृष्ट होने लगी। "अब लंबे लपेटे जानेवाले चित्रपटों पर चटकीले रंगों में शौर्य्यपूर्ण गाथाओं, राजदरबारी क्रिया-कलापों अथवा संत-महात्माओं विषयक दंतकथाओं के चित्रण से ध्यान हटाकर लोगों ने तेज़ी से अंकित किए जानेवाले स्याही के हलके रेखाचित्रों को अपनाया, जिनमें थोड़े में ही अमित शक्ति भरी जाने लगी। अब जो विषय प्रायः चित्रित किए जाने लगे वे ऐसे ही कुछ होते थे जैसे फूलों से लदी हुई एक झिलमिलाती हुई टहनी, नरकुल की पतली-सी शाख पर बैठी कोई एकाकी चिड़िया, कुहरे में से कुछ-कुछ झाँकती हुई कोई पर्वतमाला, अथवा ध्यानावस्थित कोई संत-महात्मा। इन चित्रों का मूल विषय, फिर वह चाहे जो भी होता, चित्रित वस्तु का उतना प्रतिनिधित्व नहीं करता था जितना उस भावना का जो कि वह दर्शकों के मन में पैदा करता था। वह होता था एक प्रकार से किसी लाक्षणिक संकेत या भावना में परिणत यथार्थता जैसा। ज़ेन मत का लक्ष्य ही था आत्मतत्त्व की अनुभूति करना, अतएव उसकी दृष्टि में तो लाक्षणिक भाव से किसी भी बात का संकेत मात्र उसके संपूर्ण निरूपण से कहीं अधिक कलापूर्ण समझा

जाता था। इस नवीन आन्दोलन का प्रधान नेता सोगा शुबुन नामक एक चीनी कलाकार था, जो जापान में आ बसा था। वह अपने पीछे शिष्यों और अनुगामियों की एक लंबी परंपरा छोड़ गया, जिनमें सबसे प्रसिद्ध था स्वयं उसी का पुत्र सोगा जाकोसू।

१५वीं शताब्दी के अंतिम चरण में एक और संप्रदाय की नींव सेशू नामक कलाकार के हाथों पड़ी, जो कि स्वयं जापानियों द्वारा अपने देश का सबसे महान् चित्रकार माना जाता है। उसका अनुगामी सेस्सान भी लगभग उसकी ही टक्कर का चित्रकार था जिसकी तूलिका की ओजस्विता और रचनाओं की प्रखरता एवं गहराई उसके महान् गुरु से किसी दर्जे कम नहीं थी।

तीसरा एक और संप्रदाय कानो मासानोबू द्वारा प्रस्थापित हुआ, जो कानो-परंपरा के चित्रकारों की लंबी श्रृंखला का प्रथम पुरुष था। यह परंपरा आज दिन भी जीवित है। पर कानो-चित्रपरंपरा को इतनी शक्ति न मिलती यदि उसे मोतोनोबू (१४७६ - १५५६) नामक कलाकार की प्रतिभा का सहयोग न मिला होता, जिसकी गणना जापान के सबसे महान् कलागुरुओं में की जाती है।

१५७३ ई० में अंतिम आशिकागा शोगुन के सिंहासन से उतार दिए जाने के उपरान्त अल्पकालिक तोयोतोमी-युग का आरंभ हुआ। इस युग में आशिकागा-काल के मौन कर्कश भाव से हटकर कलाकारों की रुचि भौतिक वैभव की तड़कभड़क के चित्रण की ओर मुड़ चली। इन्हीं



महान् चित्रकार ओकियो के शिष्य रोजेत्सू की एक कृति

इस चित्र में लता, पुष्प और पक्षियों के चित्राङ्कन की कमनीयता ध्यान देने योग्य है। वस्तुतः यह एक बड़े चित्रपट का अंशमात्र है। इस प्रकार के प्राकृतिक निदर्शन की तस्वीरें बनाने में जापानी कलाकारों ने कमाल हासिल किया है।

दिनों कोरिया के विजेता हिदेयोशी ने, जो एक नीच कुल में उत्पन्न हुआ था, अपने सामन्तों के साथ भव्य राजमहल बनाए और उन्हें ख़ूब जी खोलकर सजाया। उनकी सजावट की माँग की पूर्ति करने के लिए यीतोकू और उसके शिष्यों ने विशालकाय पर्दों पर भव्य चित्रकारी की। इस युग के पर्दों पर बने चित्रों में से कुछ जापानी कला की सबसे सुंदर कृतियाँ हैं। उनमें विशद भव्य रचना के साथ-साथ ओज और विस्तार के भावों का सुंदर सम्मिश्रण दृष्टिगत होता है और कभी-कभी अभूतपूर्व रंगों का प्रदर्शन भी। उनकी रेखाएँ एक निराली कल्पना की भावना से ओतप्रोत हैं, जो ऊँचे दर्जे की कलात्मक अनुभूतिशीलता और सुविकसित सुरुचि की परिचायक है। आख़िरकार शोगुनों के तोकूगावा राजवंश की सत्ता क़ायम होने पर गृहयुद्ध की समाप्ति हुई और जापान ने शांति की छत्रछाया में आकर पुनः दुनिया से किनारा कस लिया और वह अपने में ही तल्लीन हो गया।

तोकूगावा-युग में अनेक दैदीप्यमान कलाकारों का उदय हुआ, जिनमें से तान्यू, कोयेत्सू, ओगाता कोरिन और केन्ज़ान जैसे महान् चित्रकारों के नाम आज भी जापान के घर-घर में हरएक की ज़बान पर हैं। इस युग की मुख्य विशेषता यही थी कि तत्कालीन अनेक प्रख्यातनामा कलाकारों ने कला के साथ-साथ शिल्प या कारीगरी के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा उँडेली, जैसा कि माइकेल एन्जेलो या लियोनार्दो दा विंची ने इटली के पुनर्जागरण के युग में किया था। उदाहरण के लिए, कोयेत्सू न केवल एक उत्कृष्ट चित्रकार ही था, बल्कि साथ ही साथ वह एक बेजोड़ सुलेखक (Calligrapher), लकड़ी, धातु और लाख का कारीगर, तथा लकड़ी में कुरेदकर चित्र बनाने की कला का उद्धारकर्त्ता भी था। वह एक गाँव का मुखिया भी था, जहाँ उसकी देखरेख में अनेक शिल्पी अपनी-अपनी कारीगरी का काम करते थे। इसी प्रकार ओगाता कोरिन भी, जिसकी 'परदे पर तरंग-चित्रण" नामक एक कृति बोस्टन के अजायबघर में सुरक्षित है, एक अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न चित्रकार, साथ ही बहुत ही ऊँचे दर्जे का कारीगर भी था। वह जापान के चुने हुए प्रतीकसूचक कलाकारों में से एक था, जो चित्रकारी तथा लाख के काम दोनों में सिद्धहस्त था। उसका भाई केन्ज़ान भी एक उत्तम चित्रकार तो था ही, किन्तु उससे भी अधिक ख्याति उसे मिट्टी के बर्त्तन बनाने की कला में प्राप्त थी।

सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों तक जापानी चित्रकला विशेष रूप से केवल ऊँची श्रेणी के लोगों की ही सौंदर्य-पिपासा की परितृप्ति का साधन बनी रही—उसका कार्यक्षेत्र राजदरबार के दृश्यों के प्रत्यांकन, प्राचीन गण्यमान्य ग्रंथों की तस्वीरों के निर्माण अथवा ऊँचे वर्ग के वीर या संत महापुरुषों के चित्रों के निरूपण तक ही सीमित था। जन-साधारण अपने देश की उन महान् कलाकृतियों की क्वचित् ही झलक देख पाते थे और स्वयं उनकी जीवनधारा, सुख-दुःख आदि का शायद ही कभी कला द्वारा निरूपण होता। राजसी ऐश्वर्य के नन्दनकानन से नीचे उतरकर विरला ही कोई कलाकार ग़रीबों की झोपड़ियों तक आने की उदारता दिखाता! वे तो सदैव धनी वर्ग एवं शिक्षित समाज की ही आवश्यकता-पूर्त्ति करने में लगे रहते थे। यह सच है कि प्राचीन तोसा चित्रपटों में प्रायः जनसाधारण की ज़िन्दगी की हलचलों का चित्रण मिलता है, किन्तु वास्तव में यह सब किसी संत या वीर पुरुष की जीवन-घटना के निरूपण के सिलसिले में पूरक के रूप में ही किया गया था, और उस पर भी आम बाज़ारू जनता को इन चित्रों को देखने का कभी मौक़ा न मिलता था, क्योंकि वे अधिकतर या तो देवालयों और मठों में या फिर शोगुनों और दाइमियों (Daimios) के आलीशान भवनों में ही सुरक्षित या सजे रहते थे। ऐसी परिस्थिति में यह अनिवार्य ही था कि कभी-न-कभी जनसाधारण की कला-विषयक भूख को शान्त करने के लिए कुछ-न-कुछ उपाय निकाला जाता—और सो भी किसी देवोपम स्वर्गीय सामग्री द्वारा नहीं, प्रत्युत् ऐसी इहलौकिक सामान्य इतर सामग्री द्वारा, जिसे साधारण लोग सहज ही अपनाकर पचा सकें। इसी आवश्यकता के परिणामस्वरूप धीरे-धीरे "ऊकीयोये' नामक एक नवीन कलापद्धति का जापान में आविर्भाव हुआ, जिसका वहाँ की बोली में अर्थ होता है—'नित्यप्रति के जीवन के परिवर्त्तनशील नश्वर संसार की धारा का चित्रण'! इस प्रकार कलाकार की प्रतिभा को रोज़मर्रे की ज़िन्दगी के चित्रण के लिए प्रेरित करने का यह शुभ प्रयास जहाँ तक सिद्धान्त की बात थी वहाँ तक तो ठीक था, किन्तु अभी यह समस्या सामने खड़ी थी कि इस तरह निर्मित किए जानेवाले चित्र क्योंकर साधारण जनता के घर-घर पहुँचाए जायँ! इस पेचीदी समस्या को निबटाने का एक बड़ा ही सफल तरीक़ा जापानी कलाविदों ने खोज निकाला, और वह था काठ

पर खुदाई कर इस प्रकार बने हुए ठप्पों से विविध रंगों के छापे के चित्रों को तैयार कर लेना। इन काष्ठ-चित्रों (Woodcuts) का १७वीं शताब्दी के अंतिम दिनों में मोरोनोबू नामक एक प्रशंसनीय चित्रकार ने समकालीन जनता की जीवनधारा को प्रतिबिंबित करने के लिए बेपैसे के एक बढ़िया साधन के रूप में सफल उपयोग किया और फलतः पहले हाथों से रँगे जानेवाले और बाद में हस्तमुद्रित ये काष्ठचित्र सच्चे अर्थ में एक लोकप्रिय कला के माध्यम बन गए, जो जनसाधारण की वस्तु बनकर भी सुसंस्कृत बनी रही। इन्हीं काष्ठ-चित्रों के रंगीन छापों की ही बदौलत न केवल ऊकीयोये बल्कि जापान की समस्त चित्रकला की बाहरी दुनिया में प्रसिद्धि हो पाई है।

इन रंगीन छापों के निर्माता उत्कृष्ट चित्रकार भी थे। हाँ, ऊकीयोये संप्रदाय के चोशून जैसे कतिपय श्रेष्ठ कलाकारों ने छापे बनाने में भाग न लिया। इस संप्रदाय के प्रधान कलागुरु मासानोबू, हारूनोबू, कियोनागा, उतामारो आदि जो १८वीं सदी में हुए,



प्रकृतिवादी शैली के महान् कलागुरु ओकियो की एक कृति

इस महान् कलाकार ने अपने पूर्वगामी किसी भी अन्य जापानी कलाकार से कहीं अधिक सीधे प्रकृति के अध्ययन द्वारा अपनी कला का निर्माण किया। किन्तु साथ ही वह अपने देश की परंपरागत रूढ़ियों से भी कभी दूर न हटा।

तथा होकूसाइ और हिराशिजे जो १६वीं सदी में हुए, स्वदेश की अपेक्षा योरप में कहीं अधिक सम्मानित हुए, क्योंकि स्वयं जापान में उनकी गणना प्राचीन परंपरा के प्रामाणिक कला-संप्रदायों में नहीं की जाती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊकीयोये शत-प्रति-शत जन-साधारण की ही कला थी।

१७३१ ई० में चीन का एक प्रख्यातनामा चित्रकार, शेन नान पिन, जापान आया और लगभग दो वर्ष तक नागासाकी नामक स्थान में रहा। इस अल्पावधि ही में उसकी शैली तत्कालीन जापानी चित्रकारों की प्रशंसा की पात्र बन गई और वे उसका अनुकरण करने लगे। यह शैली १५वीं शताब्दी के पुराने चीनी पुनरुत्थानकाल की शैली से सर्वथा भिन्न थी, विशेषकर इस बात में कि वह विचारपरक की अपेक्षा प्रकृतिपरक अधिक थी। इस संप्रदाय के प्रधान कलागुरु थे बून्चो, रिउरिकियो, बूसान और क्वाज़ान, गोकि प्रकृतिवाद का चरम विकास संभवतः ओकियो नामक चित्रकार की कला में हुआ। ओकियो को एक असाधारण सूक्ष्म एवं सही कलापरक दृष्टि प्राप्त थी और उसको अपनी तूलिका पर असामान्य अधिकार था। अपने पूर्वगामी किसी भी अन्य जापानी कलाकार से कहीं अधिक उसने सीधे प्रकृति के अध्ययन द्वारा अपनी कला का निर्माण किया, यद्यपि साथ ही साथ अपने देश की कला की परंपरागत रूढ़ियों से भी वह कभी दूर न हटा।

ओकियो की प्रकृतिवादी प्रवृत्ति का अनुसरण १८वीं शताब्दी के अन्य कई प्रसिद्ध कलाकारों ने किया, जिनमें मोरी सोसेन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस चित्रकार ने जंगलों में जाकर हिरन, बंदर आदि जानवरों का असली हालत में अध्ययन कर उनके उत्तम चित्र बनाए। उसी की तरह जाकूचू नामक अन्य एक चित्रकार ने मुर्गे-मुर्गियों और मछलियों के रंगीन चित्र बनाने में कमाल हासिल किया।

१७वीं शताब्दी के बाद से जापान उत्तरोत्तर योरपीय देशों के संसर्ग में आता गया और फलतः जापानी चित्रकला में योरपीय शैली का प्रभाव धीरे-धीरे घुसने लगा। कुछ जापानियों ने डच लोगों से तैल-चित्र बनाने की कला सीखी और १८वीं सदी में शिबा कोकन नामक एक चित्रकार ने निरी योरपीय शैली ही में अपनी तस्वीरें बनाईं। साथ ही ऊकीयोये संप्रदाय के कई छापों में भी योरपीय दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास हुआ। मैजी युग (१८६८-१६११) के प्रारंभिक वर्षों में, जबकि पाश्चात्य विचारधारा अधिक ज़ोर-शोर के साथ अपनाई जाने लगी थी, डच शैली की चित्रकारी के प्रति अन्य सभी शैलियों से अधिक अनुराग दिखाया गया। जापानी विश्वविद्यालयों और कला-कौशल के शिक्षालयों में योरपीय शिक्षक नियुक्त किए गए और यह आशंका बढ़ने लगी कि कहीं जापानी कला अपना मूल व्यक्तित्व न खो बैठे। किन्तु जापान के सौभाग्य से १८७८ ई० में ई० एफ़० फेनोलोसा नामक एक अमेरिकन समीक्षक टोकियो-विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए और उन्होंने ही पहलेपहल जापान और चीन की प्राचीन कला के सौन्दर्य तथा महत्त्व की ओर ध्यान आकर्षित कर पश्चिमवालों की आँखें खोलीं। इस विद्वान् का जापान के बुद्धिमान् समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने जापानी गवर्नमेंट को इस बात के लिए विवश किया कि वह देवालयों को कलाकृतियाँ बेचने से रोके और देश की तमाम मूल्यवान् स्मारक वस्तुओं को राष्ट्रीय निधि करार देकर उनकी रक्षा करे। प्राचीन परंपराओं के प्रति उसकी इस दिलचस्पी और उत्साह का प्रभाव जापानी चित्रकारों पर पड़े बिना न रहा। कला के विद्यालयों में योरपीय शिक्षकों को हटाकर उनके बदले गियोकुशो, हाशिमोतो गाहो, कानो होगाई जैसे प्रख्यात जापानी कलाकारों की अध्यापकों के रूप में नियुक्ति की गई और यह निश्चय किया गया कि जापान को कला-क्षेत्र में योरप की प्रणाली की नक़ल करने के बजाय स्वयं अपनी ही राष्ट्रीय परंपरा को अपनाना चाहिए और उस पर गर्व करना चाहिए।

१८६८ ई० में ओकाकुरा काकूजो के नेतृत्त्व में, जिसने विदेश से आए हुए तरीक़ों के बजाय चित्रकारी की राष्ट्रीय शैली की शिक्षा के लिए 'निहोन बिजूत्सूइन' नामक संस्था की प्रस्थापना की, पुनः एक पृथक् कला-संप्रदाय का आरंभ हुआ। योकोयामा ताइकवान और शिमोमूरा क्वानज़ान नामक जापान के सबसे अधिक ख्यातनामा आधुनिक चित्रकार इसी विचारधारा के प्रतिपादक हैं। इन प्रमुख कलाकारों के नेतृत्व का अनुसरण करते हुए अन्य कई उत्कृष्ट चित्रकार भी इस नवीन धारा में बह चले और आज दिन जापान के कलाक्षेत्र में ताकियूची सेहो तथा कवाई गियोकूदो के नाम सर्वोच्च श्रेणी के कलाकारों में लिये जाते हैं, जोकि एशियाई कला-परंपरा को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं।



संस्कृत वाङ्मय—(४)

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्

ब्राह्मण

संस्कृत वाङ्मय में समयानुक्रम के अनुसार संहिताओं के बाद दूसरा स्थान ब्राह्मण-ग्रन्थों का है। साहित्यिक माधुर्य के विचार से इनमें कुछ भी आकर्षक नहीं। यजुर्वेद की भाँति ये भी नीरस हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरकाल के धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य को समझने के लिए ये अद्‌भूत कुंजी की भाँति हैं। धर्म-विज्ञान का मनन करने में तो इनका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। ईश-प्रार्थना के इतिहास में जिस प्रकार यजुर्वेद का प्रचुर महत्त्व है उसी प्रकार यज्ञों और पौरोहित्य के इतिहास में इन ब्राह्मणों का विशिष्ट स्थान है।

यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ है किसी यज्ञ क्रिया-विशेष पर किसी विशिष्ट आचार्य का मत, टिप्पणी। ब्राह्मण-ग्रन्थ सामूहिक रूप से यज्ञ-विज्ञान पर विद्वान् पुरोहितों द्वारा की गई व्याख्याओं की संहिताएँ हैं। और यद्यपि उनमें जगजनन और प्राचीन ख्यातों आदि से संबंध रखनेवाली और यज्ञकर्म से रिक्त अन्य कथाएँ भी हैं, तथापि उनका विषय प्रारम्भिक रूप में यज्ञकर्म ही है, जिनकी विवेचना में ये सारे मतमतान्तर और ख्यातियाँ प्रसूत होती हैं। ब्राह्मणों के विषय यज्ञ हैं और उनमें विविध क्रियाओं पर विधान है। इन क्रियाओं के रहस्यमय अर्थ भी स्थान-स्थान पर दिए गए हैं और उनका सम्बन्ध प्रार्थना और ध्यान से भी किया गया है। कई स्थलों पर वे वेदों के विविध मन्त्रों पर दार्शनिक मत भी स्थापित करते हैं और इस रूप में वे निरुक्तों का स्थान ग्रहण करते हैं। जहाँ तत्कालीन अथवा प्राचीन विद्वानों के मत परस्पर-विरोधी हैं वहाँ ब्राह्मण एक के विरोध या दूसरे के पक्ष में अपने मन्तव्य प्रकाशित करते हैं। ऐसे स्थलों का ब्राह्मणों में प्राचुर्य्य है। कितने ही स्थल उनमें ऐसे भी हैं जिनमें स्थान और सुविधा विशेष से यज्ञक्रियाओं की रीतियों में होनेवाले अंतरों पर विचार किया गया है। किस यज्ञ में किस पुरोहित, होता आदि की किस रूप में कितनी दक्षिणा होगी—इसका उल्लेख भी जगह-जगह किया गया है। किस-किस यज्ञ से इस अथवा अगले जन्म में कौन-कौन-सी सुविधाएँ यजमान पाएगा—इसका भी विवेचन मिलता है। इस प्रकार ब्राह्मण वे ग्रन्थ हैं जिनमें यज्ञ-विज्ञान का निरूपण है।

सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि किसी समय में इस प्रकार के अनेकों ग्रन्थ वर्तमान रहे होंगे—उनसे कहीं अधिक जो हमें आज उपलब्ध हैं। ऐसी भारतीय ख्याति तो है ही, इसके अतिरिक्त उपलब्ध ब्राह्मणों के पाठों में ही अनेकों लुप्त ब्राह्मणों के उद्धरण मिलते हैं और जो ब्राह्मण आज उपलब्ध हैं स्वयं उनकी भी संख्या कुछ कम नहीं है। चारों वैदिक संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण भी हैं, जिनकी रचना विविध शाखाओं के साथ चरणों में हुई थी। कृष्ण यजुर्वेद की संहिता में ही मंत्रों के अतिरिक्त यज्ञों के अर्थ और उनके प्रयोजन पर प्रकाशित मतों और व्याख्यानों का समावेश है। यजुर्वेद की संहिताओं के इन ब्राह्मण-सदृश भागों में हमें ब्राह्मण-साहित्य का आरम्भ दृष्टिगोचर होता है। कृष्ण यजुर्वेद के ये ही स्थल, जिनमें यज्ञ-क्रियाओं पर विधान अथवा उनके संबंध के मन्तव्य प्रकट किए गए हैं और जिनका संपर्क सीधा मंत्रों से है, वे प्रारंभिक ब्राह्मण भाग हैं जिनका प्रणयन ग्रन्थ रूप में पश्चात् काल में विविध शाखाओं में सम्पन्न हुआ। यही कारण

है कि एक तो इन ब्राह्मण-ग्रन्थों की संख्या भी प्रचुर मात्रा में बढ़ी और इसके अलावा ब्राह्मणों के अन्तर्गत गिने जानेवाले उन ग्रन्थों का निर्माण हुआ जो न तो अपने विषय और न अपने विस्तार के कारण ही ब्राह्मण कहला सकते हैं। निःसन्देह वे वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी हैं। इस वर्ग के अनेक ब्राह्मण सामवेद से संबद्ध हैं, जो वेदांगों के सिवा और कुछ नहीं हैं। अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण भी इसी प्रकार का एक प्रयास है। गोपथ ब्राह्मण तो सारे वैदिक साहित्य के अंतिम ग्रंथों में से एक है। वास्तव में प्रारम्भ में अथर्ववेद का कोई ब्राह्मण न था। बाद में जब किसी वेद की स्थिति ब्राह्मण के बिना असाधारण समझी गई तब गोपथ-जैसे प्रयास प्रस्तुत किए गए।

नीचे प्रमुख ब्राह्मणों का एक संक्षिप्त विवरण दिया जाता है:—

ऋग्वेद का ऐतरेय ब्राह्मण है। इसमें चालीस 'अध्याय' हैं जो आठ 'पञ्चकों' में विभक्त हैं। इसके ग्रन्थकार अनुवृत्त के अनुसार महिदास ऐतरेय हैं। वास्तव में वह इसके संकलक अथवा संपादक मात्र थे। इस ब्राह्मण में सोम-यज्ञ का सविस्तर और मुख्यतः वर्णन है। इसके अतिरिक्त इसमें अग्निहोत्र और राजसूय का भी वर्णन है। इसके अन्तिम दस अध्याय कुछ लोगों के मत से बाद के हैं। इस ब्राह्मण से कौशीतकि या सांखायण ब्राह्मण का घना संबंध है। यह भी ऋग्वेद का ही ब्राह्मण है और इसमें तीस अध्याय हैं। इसके पहले ६ अध्यायों में अन्न-यज्ञ का वर्णन है और ७—३० तक में ऐतरेय ब्राह्मण से मिलता-जुलता सोम-यज्ञ का विवेचन है। यह ब्राह्मण ऐतरेय से बाद का है और एक व्यक्ति का प्रणयन है।

ताण्ड्य-महाब्राह्मण सामवेद का है। इसके पचीस भाग होने के कारण इसे पञ्चविंश ब्राह्मण भी कहते हैं। यह प्राचीनतम ब्राह्मणों में से एक है और इसमें कुछ अत्यन्त प्राचीन कथानकों का वर्णन है। इसके एक विशिष्ट भाग का 'शुद्धि' से संपर्क है जिसमें 'व्रात्यस्तोम' और उन यज्ञक्रियाओं का विवरण है, जिनके अनुसार 'व्रात्यों' को शुद्ध कर आर्यों अथवा ब्राह्मणों में मिला लेते थे। षड्विंश (अथवा छब्बीसवाँ) ब्राह्मण पचीस भागोंवाले पंचविंश अथवा ताण्ड्य का ही एक विस्तार है। षड्विंश का अंतिम भाग अद्भुत ब्राह्मण कहलाता है, जो इन्द्रजाल पर एक वेदांग है। सामवेद का जैमिनीय ब्राह्मण ताण्ड्य-महाब्राह्मण से भी प्राचीन है। यह ब्राह्मण श्रुति और धर्म दोनों के इतिहास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है, परन्तु यह अधिकतर असंबद्ध और अपूर्ण भागों में ही प्राप्य है।

कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण वास्तव में तैत्तिरीय संहिता का ही एक उत्तर विस्तार है, क्योंकि कृष्ण यजुर्वेद संहिताओं में ब्राह्मणों का आरंभ से ही समावेश हो गया है। इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण संहिता का अन्तिम भाग है। इस ब्राह्मण में पुरुषमेध का वर्णन है और चूँकि संहिता में पुरुषमेध का उल्लेख नहीं है, अतः यह सिद्ध है कि यह ब्राह्मण काफ़ी बाद का है।

शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद का है। इसमें सौ अध्याय हैं। यह ब्राह्मण सब ब्राह्मणों में बड़ा, विख्यात और अपने प्रस्तुत विषय के अनुसार प्रमुख है। वाजसनेयि संहिता की भाँति ही शतपथ की भी 'काण्व' और 'माध्यन्दिन' दो शाखाएँ हैं। माध्यन्दिन शाखा में इसके सौ अध्याय १४ काण्डों में विभक्त हैं। इस ब्राह्मण के पहले नौ काण्ड वाजसनेयि संहिता के पहले अट्ठारह भागों पर क्रमिक भाष्य है। ये शेष पाँच काण्डों से निःसंदेह प्राचीन हैं। फिर इनमें भी सम्भवतः एक से पाँच काण्ड परस्पर सन्निकट हैं। इन काण्डों में याज्ञवल्क्य (जो चौदहवें काण्ड के अंत में शतपथ-ब्राह्मण के रचयिता कहे गए हैं) का उल्लेख प्रायः ऐसे आचार्य के रूप में हुआ है जिसका मत संदिग्ध और विवादास्पद विषयों पर सर्वथा मान्य है। अग्निचयन का वर्णन करनेवाले छठे से नवें तक के किसी काण्ड में याज्ञवल्क्य का नाम नहीं आया है। उसके स्थान पर शाण्डिल्य नामक एक दूसरे आचार्य का प्रमाण के रूप में उल्लेख हुआ है। यही शांडिल्य दसवें काण्ड के अग्निरहस्य का प्रवक्ता कहा गया है। ग्यारहवें से चौदहवें काण्ड में उपनयन, स्वाध्याय, मृत्यु-संबंधी क्रियाओं आदि ऐसे विषयों के संबंध में विवेचन किया गया है जो साधारणतया ब्राह्मण-ग्रन्थों के विषय नहीं समझे जाते। अश्वमेध, पुरुषमेध और सर्वमेध का वर्णन तेरहवें काण्ड में और प्रवर्ग्य-क्रिया का चौदहवें में है। इसी ब्राह्मण के अंत में बृहदारण्यक नाम का प्राचीन और प्रमुख उपनिषद् है।

भिन्न-भिन्न वेदों के ब्राह्मणों में एक विशिष्ट अन्तर है। ऋग्वेद के ब्राह्मण क्रियाओं के संबंध में उन विषयों पर ज़ोर देते हैं जो 'होता' से संपर्क रखते हैं। ये होता ऋग्वेद के मंत्रों और सूक्तों का गान करते हैं। इसी प्रकार सामवेद के ब्राह्मण मुख्यतः उद्गाता और यजुर्वेद के अध्वर्यु

के कार्यों का विवेचन करते हैं। अपने विषयों के तात्विक निचोड़ में ब्राह्मण प्रायः अभिन्न हैं। इन ब्राह्मणों के प्रणयन में कई शताब्दियों का समय लगा है। सामवेद के वंशब्राह्मण में दिए वंशवृत्तों में पचास-साठ गुरुओं के नाम आते हैं। इनका काल-प्रसार एक सहस्र वर्षों से कम किसी प्रकार न रहा होगा। कुछ लोगों ने इन तालिकाओं के ऐतिह्य पर संदेह किया है, जो बेबुनियाद है। पहले तो इनमें से अनेकों ऐसे नाम हैं जो अन्य वैदिक साहित्य में भी मिलते हैं। दूसरे इन गुरुओं में से बहुतेरों का संबंध पुराणों में दी हुई वंश-तालिकाओं के राजाओं से है, जिनके वे या तो पुरोहित या आचार्य हैं। इनका परस्पर मिलान करने से कोई इतिहास-क्रम नहीं बिगड़ता और यह सिद्ध कर देना आसान हो जाता है कि वे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। तीसरे, इन तालिकाओं को सुरक्षित रखने में इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि जो गुरुभाई हैं वे ऊपर-नीचे न होने पावें और कोष्ठ-बद्ध हो जाएँ। फिर वेदों की भाँति ही ब्राह्मण और आरण्यक-उपनिषदों के पाठों को भी असाधारण धार्मिक श्रद्धा से सुरक्षित रखा गया है। इस कारण उनमें किसी प्रकार की संकरता की संभावना नहीं। इस बात का भी स्मरण रखना आवश्यक है कि यज्ञ-क्रिया के इस वैज्ञानिक विधि के विकास में प्रचुर समय लगा होगा। और यदि बौद्ध साहित्य ब्राह्मणों को प्राचीन मानता है और स्वयं बुद्ध इनकी स्थिति अपने से पूर्व मानते हैं तो चूँकि उनका अपना काल ई० पू० छठी शताब्दी है, अतएव ब्राह्मणों का संकलन उस समय तक पूरा हो चुका होगा। यदि महाभारत की घटना का समय १४०० ई० पू० के लगभग मानें तो ब्राह्मणों की तालिका का प्रथम मानव गुरु तुरु-कावषेय, जो जनमेजय का पुरोहित था, उस तिथि के लगभग जा पहुँचेगा। और इस प्रकार १४०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक आठ शताब्दियों के बीच ब्राह्मण-साहित्य का विकास कुछ अयुक्तियुक्त न माना जाएगा।

वैसे इन ब्राह्मणों का समय स्थिर करना भी उतना ही कठिन है जितना संहिताओं का। इस संबंध में एक बात निःसंदेह स्थिर हो जाती है। वह यह है कि जब इन ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ हुआ उससे बहुत पूर्व ही ऋग्वेद का साहित्य समाप्त और संकलित हो चुका था। इतना ही नहीं वरन् वह अति प्राचीन भी समझा जाने लगा था। केवल ऋग्वेद ही नहीं प्रत्युत् अथर्ववेद के भेदभरे भाग, यजुर्वेद के याग-होम और सामवेद के गेय मंत्र सभी इन ब्राह्मणों से अत्यन्त पूर्व-काल में निर्मित हो चुके थे। विन्टरनित्स का कहना है कि यह भी संभव है कि अथर्ववेद की संहिताओं का संपादन और प्रारम्भिक ब्राह्मण-साहित्य का निर्माण प्रायः सम-कालीन रहा हो*। इस प्रकार का अनुमान सर्वथा वैज्ञानिक नहीं होगा, क्योंकि इससे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अनुवृत्त को क्षति पहुँचेगी। अनुश्रुति है कि व्यास ने अपने शिष्यों की सहायता से ऋग्वेदादि संहिताओं का संपादन किया, जो महाभारत-काल में हुआ। तब कदाचित् ब्राह्मण-काल की क्रियात्मिका प्रणाली का जन्म तो अवश्य हो चुका होगा, क्योंकि ब्राह्मणों की तालिका का प्रथम आचार्य और जनमेजय का पुरोहित तुरु-कावषेय महाभारत-काल के निचले सिरे को छूता है। फिर भी ब्राह्मणों के ग्रन्थन और इनके क्रियात्मक काल में काफ़ी अन्तर रहा होगा। इस बात को न भूलना चाहिए कि इन तालिकाओंवाले ब्राह्मणों का निर्माण तभी हुआ होगा जब उन तालिकाओं की सबसे निचली कड़ी के नाम का आचार्य भी भौतिक दृष्टि से रह चुका हो। वैसे इसमें सन्देह नहीं कि कुछ ब्राह्मणों के कतिपय अंश अत्यन्त प्राचीन हों—शायद इतने प्राचीन हों जितनी संहिताएँ स्वयं हैं। क्योंकि जब से ही ऋचाओं का निर्माण हुआ होगा और जब से ही उनके क्रियात्मक और यज्ञात्मक रूप खड़े हुए होंगे तब से ही उनके अनुष्ठान-वैचित्र्य और मत-भिन्नताएँ भी उठ खड़ी हुई होंगी। इस रूप में जहाँ तक ब्राह्मणों में वेद अथवा यज्ञात्मिका व्याख्या की बात है उसका कुछ अंश अत्यन्त प्राचीन हो सकता है—शायद तुरु-कावषेय आदि से भी प्राचीन। और प्रस्तुत ब्राह्मणों में उन प्राचीन ब्राह्मणों का उल्लेख भी है जो इनके निर्माण के समय भी उपलब्ध न हो सके थे, खो चुके थे।

ऋग्वेद का सप्तसिंधु देश अब ब्राह्मण-काल में विस्तृत हो चुका था। उस काल के कार्यों की क्रियात्मिकता का क्षेत्र अब कुरु-पञ्चाल जनपद हो चुका था। अब यज्ञों का धर्म-क्षेत्र 'कुरुक्षेत्र' हो चुका था। इस कुरुक्षेत्र का विस्तार गंगा और यमुना के पश्चिम सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच था। पंचालों का देश पड़ोस में ही गंगा और यमुना के बीच था। यह दिल्ली से मथुरा तक का देश बहुत बाद तक 'ब्रह्मावर्त्त' कहलाता रहा। इसी जनपद में उस संस्कृति का प्रादुर्भाव और विकास हुआ

* भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० १६५।

जिसे ब्राह्मण-संस्कृति कहते हैं और जिसकी आर्य अथवा हिन्दू संस्कृतियाँ पर्यायवाची हैं। इस समय में ऋग्वेद काल की धार्मिक स्थिति से बहुत अन्तर पड़ गया था। देवता वही हैं, जो ऋग्वेद के हैं परन्तु अब वे अपने पैरों नहीं खड़े होते, यज्ञों से अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। कुछ देवता जो ऋग्वैदिक काल में गौण थे अब विशिष्ट हो जाते हैं। विष्णु और रुद्र अथवा शिव ऐसे ही में हैं। इस काल में विशेष महत्व प्रजापति को मिलता है, जो देव और असुर दोनों का जनक समझा जाता है। देवासुर-संग्राम के अनेक निर्देश ब्राह्मणों में मिलते हैं। ऋग्वेद में असुर फिर भी देवता-सा है, परन्तु ब्राह्मणों में वह केवल दैत्य है। अब यज्ञ लक्ष्यार्थ नहीं किए जाते वरन् वे स्वयं एक आवश्यक कार्य हैं। वे स्वयं लक्ष्य हो जाते हैं। पूर्वकाल में देवता मुख्य थे, यज्ञ उनके प्रसाद के लिए किए जाते थे। अब दोनों एक हो गए। यज्ञ ही प्रधानतः मुख्य वही प्रजापति हैं।

आरण्यक और उपनिषद्

साधारणतया यह धारणा है कि ब्राह्मण-काल में केवल यज्ञप्रसंगजनित शुष्क ब्राह्मण-साहित्य की ही रचना हुई। परन्तु यह धारणा ग़लत है। आर्यों की भाँति उर्वर मस्तिष्क केवल यज्ञ-संबंधी बाल की खाल निकालने में ही नहीं लगा रह सकता था। यथार्थ में तो स्वयं ब्राह्मण-ग्रन्थों में, जैसा कि सायण ने पहले ही कहा है, कल्प के अतिरिक्त इतिहास-पुराण, गाथा और नाराशंसी साहित्य का उदय हो जाता है। और इस प्रकार वीर काव्य का आरम्भ ब्राह्मण-काल में ही होता हम पाते हैं। यह बात भी कुछ बेतुकी है कि उस समय की विविध आर्य जनता सरस गीत न गाती रही हो, अथवा सुन्दर कथाओं को कान न देती रही हो। उन दिनों जो कुछ गाया जाता था उसका कुछ आभास तो हमें वैदिक पाठों की शुनःशेप-वाली आख्यायिका में मिल जाता है, पर वास्तव में उसका बड़ा भाग पुराणों और काव्यबद्ध इतिहासों में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के भाषा-साहित्य से ही स्पष्ट है कि उनसे पूर्व ही व्याकरण, शिक्षा, ज्योतिष आदि (जिनका विशद और स्वतंत्र वर्णन बाद के वेदांगों का विषय है) का रूप खड़ा हो चुका था। और न दार्शनिक विचार ही ब्राह्मणों से सर्वथा बाद में उठे। वास्तव में वे उनसे पूर्व ही जन्मे। स्वयं ऋग्वेद के मंत्रों में इस प्रकार के विचार और देवताओं के संबंध में प्रश्नात्मक धारणाएँ उठ खड़ी होती हैं। ये सन्देहशील जिज्ञासु ही भारत के प्रथम दार्शनिक थे। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि इन दार्शनिकों ने अपने विचारों का प्रचार किया, अपने चरण स्थापित किए। और यद्यपि यजुर्वेद की संहिताओं में उनकी मखौल उड़ाई गई है, इसमें सन्देह नहीं कि इस मखौल में ही एक दबे भय का संचार रहा हो।

इतना अवश्य है कि ये दार्शनिक हमें यज्ञपुरोहितों में न मिलेंगे। यह संभव नहीं कि इन्द्र के प्रति यज्ञ करानेवाले होता अथवा अध्वर्यु को इन्द्र के देवत्व में साधारणतया सन्देह होता हो। कदापि भी वे इन्द्र अथवा अन्य देवताओं के प्रति किए यज्ञों को निरर्थक नहीं घोषित कर सकते थे। इसके अतिरिक्त यज्ञ ही उनकी जीविका के भी साधन थे। अधिक तो सम्भव यह है कि ये सन्देहात्मक विचार उन धनियों के दिमाग़ में उठे हों जो प्रमादी और यज्ञों से कुछ उदासीन रहे हों—यज्ञों का विपुल व्यय जिन्हें अपव्यय-सा लगता हो और पुरोहितों की बड़ी दक्षिणाएँ जिन्हें अखरती हों। उपनिषदों और स्वयं ब्राह्मणों के कतिपय उदाहरणों से सिद्ध होता है कि राजन्य वर्ग का प्राचीन काल के साहित्यिक और मेधावी जीवन से घना संबंध था। कौशीतकि ब्राह्मण* में राजा प्रतर्दन पुरोहितों से यज्ञ-विज्ञान पर विचार-विनिमय करता है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण† में विदेह जनक अनेकों बार अपने ज्ञान से पुरोहितों को चकित और निरुत्तर कर देता है। जब वह अग्निहोत्र के संबंध में श्वेतकेतु, सोमशुष्म और याज्ञवल्क्य से प्रश्न करता है तो वे सद्यःस्नातक उत्तर नहीं दे सकते। उसके चले जाने पर स्नातक एक दूसरे से कहते हैं कि "आश्चर्य है कि राजन्य ने हमें निरुत्तर कर दिया, अब हमें उसे ब्रह्मोदय (शास्त्रार्थ) के लिए ललकारना चाहिए।" याज्ञवल्क्य इस विचार से सहमत न होकर जनक के पास जाता और उससे उसका ज्ञान सीखता है।× यजमान अश्वपति भी इसी प्रकार अपने पुरोहित शौल्वायन को पढ़ाता है।⊙ उपनिषदों में तो राजाओं और राजन्यों के अतिरिक्त स्त्रियाँ भी दार्शनिक व्याख्यानों में भाग लेती हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में वचक्नु की पुत्री गार्गी याज्ञवल्क्य से वादविवाद करती है। दूसरे स्थल पर वही याज्ञवल्क्य से कहती है कि "जिस प्रकार धनुर्धर दो अचूक बाणों को धनुष पर रखता है मैं भी तुम्हारे विरोध में खड़ी होकर दो प्रश्न करती हूँ

* २६, ५। † का० ११. × ११, ६, २; ३, १, २-४; ६, ३. ⊙ वही, ११, ४, २, १७-१०.

उनका उत्तर दो।" उसी उपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी को आत्मविद्या का रहस्य समझाते हैं।* बार-बार उपनिषदों में वे स्थल आते हैं जहाँ राजन्य (क्षत्रिय) ब्राह्मण को दीक्षित करते और ज्ञान देते हैं। यह विदेह जनक, प्रवाहण जैवलि और अश्वपति कैकेय का युग है। जनक याज्ञवल्क्य को उपदेश करता है, प्रवाहण जैवलि पञ्चाल परिषद् में दहाड़ता है और अश्वपति कैकेय याज्ञवल्क्य के गुरु उद्दालक आरुणि और उसके पुत्र श्वेतकेतु को शिष्य रूप में अपनी ज्ञानाग्नि से विदग्ध करने को 'समित्पाणि' होने का आदेश करता है। उपनिषद्-ज्ञान के दो मुख्य स्कन्ध 'आवागमन या पुनर्जन्म'† और 'आत्मा'⊙ के सिद्धान्तों का निरूपण दो राजन्य क्रमशः प्रवाहण और अश्वपति कैकेय करते हैं। जिस समय ब्राह्मणवर्ग यज्ञों में दत्तचित्त थे तभी राजन्यों और अन्य वर्गों के अनेकों समुदाय यज्ञ से इतर ज्ञान—पराविद्या—की खोज में विचार कर रहे थे। इनमें से कुछ गृहस्थ थे, कुछ संन्यासी। संन्यास की ओर लोग झुकने लगे थे और फलस्वरूप धीरे ही धीरे कितने ही संप्रदाय खड़े होने लगे थे। उन्हीं में से दो प्रबल संप्रदाय बौद्धों और जैनों के उठ खड़े हुए, जिन्होंने यज्ञ-विश्वास की नींव हिला दी।

फिर भी इससे यह कभी न समझना चाहिए कि इन दार्शनिक विचारों से ब्राह्मण सर्वथा दूर थे। यह संभव भी न हो सकता था, क्योंकि इन ब्राह्मणों के ही गुरुकुलों में सारे क्षत्रियों की प्रारम्भिक शिक्षा होती थी। प्रायः विचार-विनिमय और वाद-विवाद यहीं हो जाते होंगे और दो-दो चोटें हो जाने के बाद ऋषि उस शृंखला को सर्वथा भुला न देता होगा। फिर सारे ब्राह्मण यज्ञ के ही आसरे तो रहते न रहे होंगे। उनमें भी धनी-ग़रीब थे और उनके चिन्तन की भी सुविधाएँ-असुविधाएँ थीं। इन सबसे ऊपर ब्राह्मणों में परिस्थितियों के अनुकूल अपने को परिवर्तित कर लेने की सदा से शक्ति थी। इसी के फलस्वरूप उस उठती-फैलती मेघमाला को उन्होंने बिखेर दी जो गौतम बुद्ध ने उत्पन्न की थी। स्वयं बुद्ध को ही उन्होंने अपने अवतारों की शृंखला में डालकर उन्हें विलुप्त कर दिया!

ब्राह्मणों में ही अथवा उनके परिशिष्ट के रूप में हमें वैदिक साहित्य के वे भाग मिलते हैं जिन्हें 'आरण्यक' कहते हैं। इनके पाठ रहस्यमय थे जो साधारणतया किसी को नहीं दिए जा सकते थे। विशिष्ट शिष्य ही उस भेदभरे साहित्य में दीक्षित हो सकते थे और इसी कारण उनका दान अरण्य अर्थात् वन की निर्जनता में ही संभव था। इनमें यज्ञों की क्रिया अथवा उनके अनुष्ठान की रीति नहीं दी हुई है, प्रत्युत् उनका विषय यज्ञों का रहस्यवाद और पौरोहितिक आन्वीक्षिकी है। ब्राह्मण-धर्म के आदर्श आश्रमों के स्थापित हो जाने के बाद सहज ही इन आरण्यकों को पढ़ना वनवासी ऋषियों का कर्तव्य हो गया। प्राचीनतम उपनिषद् आरण्यकों के साथ इस घनता के साथ जुड़े हुए हैं कि उनको उनसे पृथक् करना कठिन है। उपनिषद् ही वेदान्त हैं, क्योंकि वे अपेक्षाकृत बाद में बने और इस प्रकार वे वैदिक साहित्य के अन्त के हैं। वैदिक विद्यार्थी के अध्ययन के अन्त में ही उन दार्शनिक पेचीदगियों पर गवेषणा होती थी जो उपनिषदों के विषय हैं। इन उपनिषदों में ही बाद के दार्शनिकों ने वेदों का रहस्य पाया।

वेदान्त के रूप में आरण्यक और उपनिषद् विविध वैदिक शाखाओं के हैं। अधिकतर तो वे ब्राह्मणों के ही भाग हैं। इस प्रकार ऐतरेय आरण्यक, जिसमें ऐतरेय उपनिषद् भी शामिल है, ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण के साथ जुड़ा हुआ है। इसी तरह हम देखते हैं कि कौशीतकि उपनिषद् और महानारायण उपनिषद् और आरण्यक ऋग्वेद के कौशीतकि ब्राह्मण के ही भाग हैं। कृष्ण यजुर्वेद में तैत्तिरीय आरण्यक तैत्तिरीय ब्राह्मण का ही भाग है जिसका अन्तिम भाग तैत्तिरीय उपनिषद् है। शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड के प्रथम तीन भाग एक आरण्यक हैं और इसी काण्ड का अन्त सबसे महान् और प्रमुख उपनिषद् बृहदारण्यक है। छान्दोग्य उपनिषद्, जिसका प्रारम्भिक भाग एक आरण्यक है, स्वयं सामवेद के एक ब्राह्मण (सम्भवतः ताण्ड्य महाब्राह्मण) का है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण सामवेद की जैमिनीय अथवा तलवकार शाखा का एक आरण्यक है। केन उपनिषद्, जिसे तलवकार उपनिषद् भी कहते हैं, इसी का एक भाग है।

तैत्तिरीय आरण्यक में बाद में जोड़े जानेवाले महानारायण उपनिषद् को छोड़ उपरिलिखित सभी उपनिषद् प्राचीनतम हैं। भाषा और शैली में वे ब्राह्मणों के से हैं जिनके वे भाग हैं। उन्हीं की भाँति इनकी भी वही

* बृह० उप०, २, ६; ३, ८; २, ४; ४, ५. † छा० उप०, ५, ३; बृह० उप०, ६, २; कौ० उप०, १, १. ⊙ छा० उप०, ५, ११ ; श० ब्रा०, १०, ६, १.

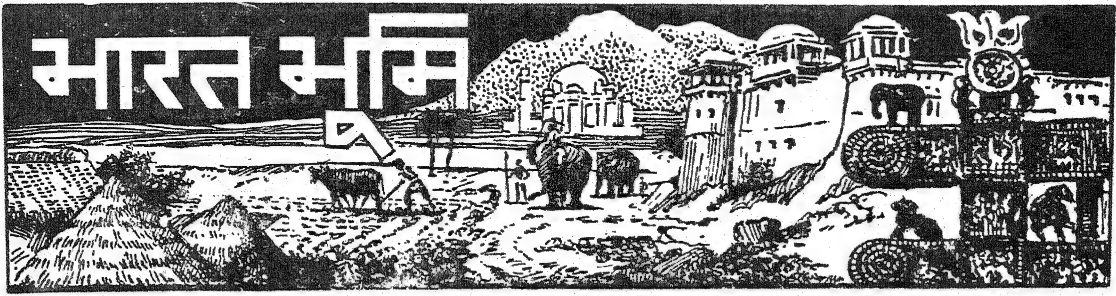
प्राचीन गद्यात्मिका शैली है। केवल केन उपनिषद् का आधा पद्यात्मक है और यह उपनिषद् ऊपर गिनाए उपनिषदों में से अन्तिम है। प्रमुख उपनिषदों के स्वतंत्र भाग भी ब्राह्मणों और आरण्यकों से बहुत बाद के नहीं हैं, और उनकी रचना कम-से-कम बुद्ध और पाणिनि से पूर्व हो चुकी थी। इस प्रकार ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकि और केन उपनिषद् साहित्य के प्राचीनतम स्तर प्रस्तुत करते हैं। वेदान्त सिद्धान्त उनमें खरे मौलिक रूप में विद्यमान हैं।

कुछ उपनिषद्, जो थोड़े बाद के हैं, संभवतः प्राक्‌बौद्ध हैं। यद्यपि ये आरण्यकों के भाग नहीं हैं, इनका संबंध भी किसी-न-किसी वैदिक शाखा से है। कठ या काठक उपनिषद् का संपर्क कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा से है, जिससे शायद उस महानारायण उपनिषद् का भी संबंध है जो तैत्तिरीय आरण्यक का परिशिष्ट-सा है। वाजसनेयि संहिता का अन्तिम भाग अमूल्य ईश उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद का है। मुण्डक और प्रश्न अथर्ववेद के हैं। इनका विषय भी वेदान्त ही है। इनमें सांख्य और योग सिद्धान्तों का भी रूप खड़ा हो गया है। कृष्ण यजुर्वेद का मैत्रायणीय उपनिषद् बुद्धोत्तर काल का है। परन्तु प्राचीन उपनिषदों की भाँति यह गद्य में लिखा गया है। भाषा, शैली और विषय के आधार पर हम इसे संस्कृत के काव्य-साहित्य के सन्निकट पाते हैं। इसी काल का अथर्ववेद का माण्डूक्य उपनिषद् भी है। परन्तु शंकर ने ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में जिन प्रामाणिक बारह उपनिषदों का उल्लेख किया है उनमें न तो मैत्रायणीय है और न माण्डूक्य। फिर भी इन दोनों की गणना उन बारह के साथ होनी चाहिए। ये चौदह उपनिषद् प्राचीनतम भारतीय दर्शन के इतिहास के आधार हैं।

बाद के लगभग २०० उपनिषदों का संबंध वेदों से बताया जाता है, परन्तु इनमें से केवल कुछ ही वास्तव में उनसे संपर्क रखते हैं। इनमें से अधिकतर दार्शनिक न होकर केवल धार्मिक अथवा उपासनापरक हैं जो बहुत बाद के धार्मिक संप्रदायों के हैं। अधिकतर का संबंध पुराणों और तंत्रों से है। विषय के अनुसार इनके निम्न-लिखित विभाग किए जा सकते हैं—(१) वेदान्त-सिद्धान्तीय, (२) योगसंबन्धी, (३) संन्यासपरक, (४) विष्णुप्रशंसक, (५) शिवप्रशंसक, और (६) शाक्त अथवा अन्य संप्रदायों के उपनिषद्। उनके कुछ भाग तो गद्य में हैं, कुछ गद्य-पद्य में, कुछ वीर-काव्य सदृश श्लोकों में। इनमें कुछ, जो अपेक्षाकृत प्राचीन हैं, नीचे दिए जाते हैं:—(१) जाबाल उपनिषद् (इसका शंकर ने प्रमाणों में उल्लेख किया है); (२) परमहंस उपनिषद् (इसमें परमहंसों का वर्णन है); (३) बृहदाकार सुबाल उपनिषद् (इसका रामानुजाचार्य ने अनेकों बार उल्लेख किया है। इसमें सर्ग, मनोविज्ञान, आन्वीक्षिकी आदि का समावेश है); (४) गर्भ उपनिषद् (इसमें पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त होने की प्रार्थना है); (५) शैवों का अथर्वशिरस उपनिषद् (इसका उल्लेख धर्मसूत्रों में मिलता है); (६) ब्रह्मसूचिका उपनिषद् (जिसमें एकेश्वरवाद का उपदेश है)।

बहुत बाद के मुक्तिका उपनिषद् में १०८ उपनिषदों की सूची दी हुई है और इनका संबंध वेदों से किया गया है। इसके अनुसार ऋग्वेद के १० उपनिषद् हैं, शुक्ल यजुर्वेद के १९, कृष्ण यजुर्वेद के ३२, सामवेद के १६ और अथर्ववेद के ३१। परन्तु इस परिगणना का आधार प्राचीन अनुश्रुति नहीं है। ये उपनिषद् साधारणतया अथर्ववेद के कहे जाते हैं। यथार्थ में उपनिषद् का 'रहस्य-मय सिद्धान्त'वाला अर्थ बराबर उनके संबंध में सार्थक रहा। इसी कारण जब इस प्रकार के ग्रन्थ बने उनकी गणना उपनिषदों में कर ली गई और चूँकि अथर्ववेद का विषय अधिकतर भेदभरा है वे उसके साथ संबद्ध हो गए।

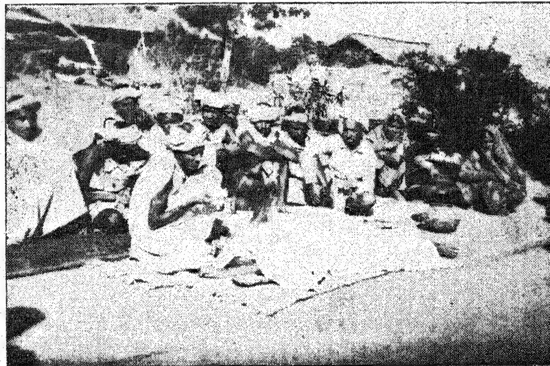
'उपनिषद्' शब्द उप-नि-सद् से बना है, जिसका अर्थ है 'किसी के समीप बैठना।' इसका भाव प्राचीन काल में रहस्य-सिद्धान्तों की दीक्षा के लिए शिष्य का गुरु के समीप बैठना था। स्वयं उपनिषदों में 'इति रहस्यम्' का पाठ प्रायः मिलता है। उपनिषदों का विषय 'ब्रह्म', 'आत्मा' और 'ब्रह्माण्ड' है। 'जीव' और 'प्रकृति' का उनमें समावेश है। आत्मा का जन्मान्तर रहस्य उन्हीं से प्रतिपादित किया गया है। एक ब्रह्म और आत्मा की अमरता का सन्देश विशेष रूप में उपनिषदों का है। भारतीय दर्शन का प्राचीन और प्रथम रूप इनमें सुरक्षित है, जिसका विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता। इनके स्रोत ईरानी सूफ़ी सिद्धान्तों में, और नव-प्लेटोनिक और अलेक्ज़ेन्ड्रियन क्रिश्चियनों के विचारों से लेकर रहस्यवादी एकहार्ट और टालर तक के सिद्धान्तों में बह रहे हैं। जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहार तो उपनिषदों पर लट्टू था। वह कहा करता था कि "संसार में सबसे अधिक संतोषप्रद और सर्वोच्च ज्ञान इन उपनिषदों का है। ये उपनिषद् मेरे जीवन के ढाढस रहे हैं अब वे मेरी मृत्यु के आश्वासन होंगे!"



भील जाति—(२)

पिछले प्रकरण में जिस रूढ़िगत वैवाहिक प्रथा का वर्णन किया गया है उसके अतिरिक्त अपहरण करके अथवा 'बलप्रयोग' द्वारा विवाह करने की भी प्रथा भीलों में प्रचलित है। बहुत-से क़बीलों में वधू-मूल्य चुकाने की दिक़्क़त से बचने के लिए वर-वधू के बलपूर्वक अपहरण करने का स्वाँग रचा जाता है, जिससे वधूमूल्य चुकाने की ज़रूरत नहीं रह जाती। भीलों में प्रचलित विवाह की इस "अपहरण" प्रथा में परम्परागत प्राचीनता है, अतः प्रचलित वैवाहिक प्रथा की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न इसके पीछे नहीं है। भील युवक और युवतियाँ स्वतंत्रतापूर्वक पर्वतों और वनों के हरेभरे घास के मैदानों में पशुओं को चराते समय मिलते हैं और चरवाहों की बाँसुरी की सुमधुर ध्वनि भील-कन्याओं की हृत्तंत्री को झंकृत कर देती है। कितने ही विवाह ऐसे अभिसारों के फलस्वरूप होते हैं। जब एक युवक और युवती एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं और विवाह करना चाहते हैं तो वे अपने-अपने माता-पिता और संरक्षकों को इसकी सूचना देते हैं। अगर वे इनके प्रस्ताव का अस्वीकार कर दें तो ये अपहरण का स्वाँग रचते हैं और लड़की अद्भुत और विचित्र रोमांचक परि-स्थितियों में अपने आप को अपहरण करनेवाले प्रेमी के हाथों समर्पित कर देती है।

पत्नियाँ प्राप्त करने के कुछ अन्य तरीक़े भी भीलों में पाए जाते हैं। इनमें से एक 'गोल गाधेडौ' उत्सव के नाम से प्रसिद्ध है। इस उत्सव में युवक और युवतियाँ एक लट्ठे अथवा वृक्ष के चारों ओर, जिसके सिरे पर एक नारियल का फल अथवा कुछ गुड़ बँधा होता है, घूमकर नृत्य करते हैं। जैसवाड़ा ताल्लुके में यह उत्सव होली के दिनों में मनाया जाता है। स्त्रियाँ लट्ठे के पास बने भीतरी गोलाकार घेरे के भीतर घूमती हुई नाचती हैं और पुरुषों को केन्द्र में पहुँचने से रोकती हैं, जो बाहरी गोलाकार घेरे में साथ ही एक ही ताल पर नाचते रहते हैं। दोनों की शक्ति-परीक्षा उस समय आरम्भ होती है जबकि कोई एक नवयुवक भीतरी घेरे को पारकर केन्द्रस्थल तक छलाँग मारकर लट्ठे के सिरे पर पहुँच गुड़ खाने और नारियल को तोड़ने का प्रयत्न करता है। ऐसा करते समय स्त्रियों के ज़बर्दस्त विरोध का उसे सामना करना पड़ता है और अगर वह लट्ठे तक पहुँचने में सफल हो जाता है तो स्त्रियाँ उसके कपड़ों को पकड़कर उसे झाड़ुओं से मारती हैं और कभी-कभी तो उसे खिरोंच भी लेती हैं। यदि इतने पर भी वह उन्हें हटाकर लट्ठे तक पहुँच-कर गुड़ प्राप्त कर लेता है तो वह शौर्य-परीक्षा में सफल मान लिया जाता है। फलस्वरूप उसे अधिकार प्राप्त हो जाता है कि जिस लड़की को चाहे वह पत्नी के रूप में ग्रहण कर सकता है और तत्काल ही उस पर अपना आधिपत्य जमा सकता है। उस



भोपा मंत्र-तंत्र द्वारा रोगी का उपचार कर रहा है!

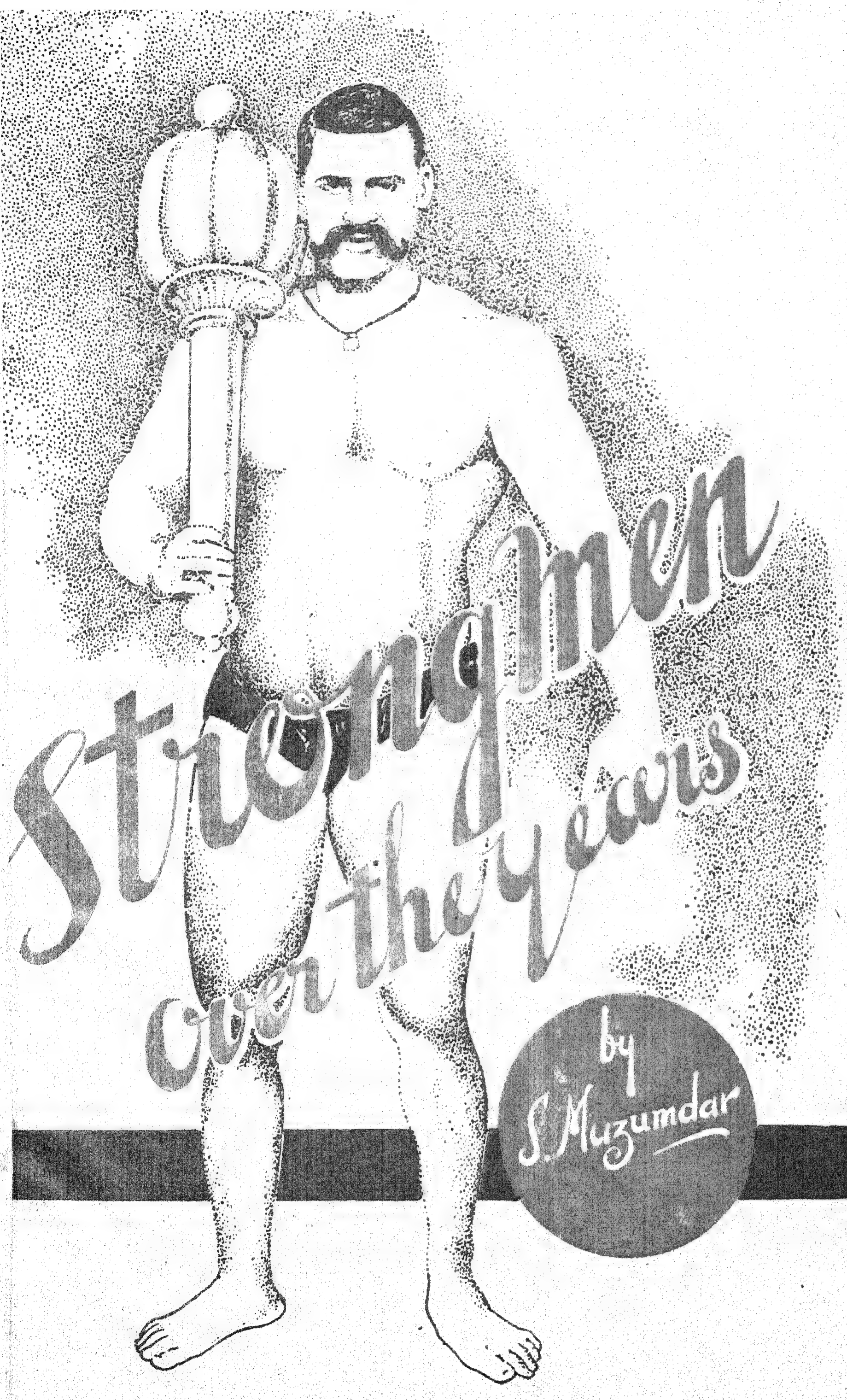
उत्सव में जो युवती पत्नी के लिए चुनी जाती है वह अपने को गौरवशाली अनुभव करती है। यद्यपि स्त्रियों के अपहरण और तलाक़ की घटनाएँ भीलों में बहुतायत से पाई जाती हैं, फिर भी ऐसी युवतियाँ, जो कि 'गोल गधेडो' प्रथा के अनुसार विवाह करती हैं, किञ्चित् ही अपने पतियों का परित्याग कर नए विवाह करती हैं। जब कभी कोई पुरुष किसी ऐसी स्त्री को अपनी पत्नी बनाता है, जिसने अपने पहले पति का परित्याग किया हो तो उसे उसके पूर्व पति द्वारा उसके विवाह में ख़र्च की गई पूरी रक़म चुकानी पड़ती है। केवल पंचायत ही को पति-परित्याग तथा अनुपयुक्तता का निर्णय करने का अधिकार होता है और ऐसे निर्णय अन्तिम होते हैं। तलाक़ की क्रिया की पूर्त्ति के लिए रुष्ट पुरुष ग्राम पंचायत के सदस्यों की बैठक कराता है और उनकी उपस्थिति में अपनी पगड़ी से एक चीर फाड़कर अपनी पत्नी के हाथ में देता है और यह कहता है कि यह देखते हुए कि इसका चरित्र अशुद्ध है मैं इसका तलाक़ कर रहा हूँ और आज से मेरा इसका संबंध भाई-बहन का होगा। परित्यक्त पत्नी उस चीर को ले लेती है और अपने पिता के मकान की एक शहतीर में बड़ी सावधानी से उसे पूरे महीने या १५ दिन के लिए, जैसा वह पसन्द करे, लटका देती है। यह लटकती हुई चीर जाति के लोगों को यह प्रदर्शित करती है कि उसके पति का अब उस पर कोई अधिकार नहीं रहा और वह पुनर्विवाह कर सकती है। इसके बाद बहुत शीघ्र ही वह दूसरा विवाह कर लेती है।



भील के मृतकों की स्मारक-शिलाएँ

हिन्दुओं की तरह भील अपने मृतकों को जलाते हैं और संक्रामक रोगों से मरनेवालों को गाड़ते हैं। भील लोग 'माता' अथवा देवी माता को मिट्टी के बर्तन चढ़ाते हैं। जब चेचक का रोग महामारी का रूप धारण कर लेता है तो इस रोग की अधिष्ठात्री देवी के लिए झूला तैयार कर दिया जाता है। रोगियों की चिकित्सा उनके गाँवों में ही जादू अथवा तावीज़ों के प्रयोग द्वारा होती है और 'भोपा' अथवा भूत-प्रेत भगानेवाले विशेष रूप से उन प्रेतात्माओं को भगाने के लिए बुलवाए जाते हैं, जो उस रोग के कारण माने जाते हैं। भोपा केवल रोगों को ही अच्छा नहीं कर सकता है, वरन् वह दृश्य तथा अदृश्य जगत् के बीच तथा भीलों और उनके प्रेतात्माओं के बीच मध्यस्थ का भी कार्य करता है, यहाँ तक कि उसे दिव्य दृष्टि रखने का भी श्रेय प्राप्त है और वह भविष्यवाणी भी कर सकता है। भील बड़े अन्ध-विश्वासी होते हैं। उनको जहाँ ज़रा-सा भी भूत-प्रेतों द्वारा अपने ऊपर अनिष्ट पहुँचने, किसी की नज़र लगने आदि का शक हुआ कि वे अपने घरों को ही छोड़ देते हैं। वे टीका लगाने तथा जनगणना का विरोध करते हैं। उनका विश्वास है कि व्यक्तियों की गणना करने के फलस्वरूप जातीय संख्या गिर जायगी! भीलों में जो महत्वपूर्ण व्यक्ति मरते हैं उनकी यादगार में लम्बी-लम्बी स्मारक-शिलाएँ खड़ी की जाती हैं। सारे भील प्रदेश में ऐसी स्मारक शिलाएँ बहुतायत से मिलती हैं।

भीलों का आर्थिक जीवन बड़ा ही कष्टपूर्ण होता है। वे अत्यन्त दरिद्र होते हैं। वे जो कुछ पैदा करते हैं, उससे उनकी साधारण आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो पातीं। न तो उन्हें ठीक से भोजन मिलता है और न पहनने को कपड़े। घर के नाम पर उनके पास एक छोटा-सा झोपड़ा ही होता है, जिसका एक भाग उनके पशुओं के लिए होता है और शेष में उनके घर के लोग रहते हैं। भूमि के अतिरिक्त उनकी एकमात्र सम्पत्ति होती है उन्हीं के हाथों द्वारा बनाई हुई आटा पीसने की चक्की (जिसके द्वारा वे अपने मुख्य भोजन—मक्का का आटा—पीसते हैं) तथा लकड़ी के थोड़े-से करछुले और भोजन पकाने का एक मिट्टी का बर्तन। उनकी कमर में केवल चीथड़े लिपटे रहते हैं। यही कारण है कि भील दुस्साहसी चोर और डाकू बन जाते हैं और डाका डालना, आग लगाना और लूटपाट करना उनका नित्य का काम हो गया है।


Strongmen
over the years
by
S. Muzumdar

This is a new book by Mr. S. Muzumdar, the celebrated physical culturist and writer. For several years he flooded the leading Indian journals with articles on health culture, and his unique stories of athletes and men of skill with particular reference to the Indian wrestlers. As the result of a public demand he published "Yoga: Exercises for Health and Cure," the first edition of which was sold out from a single bookshop in six days and the second in twenty-eight days, which proved how authoritative and popular his writings are.

Strong Men Over The Years is also published as the result of a great public demand. Nothing like this book has ever been published in this country. There is only another book of this type in French,—"The Kings of Strength," by Prof. Desbonnet of Paris.

From the dawn of time India is known to have bred super-wrestlers, super-athletes and men of phenomental power and skill. Here are some very authentic accounts of India's modern athletes who more than support India's undying tradition. If truth is stranger than fiction, some of the authentic performances witnessed and recorded by the author eclipse even legendary stories. Mr. Muzumdar, our leading athletic authority and famous wrestling referee, has in this book recorded his uncommon experiences and tells you how and why our strength-athletes are supreme in the world.

The book is lavishly illustrared with 45 rare and exclusive photographs, and is printed on costly tinted antique paper. A thoroughly trustworthy and interesting book simply written and it reads like a thrilling novel.

SECURE YOUR COPY NOW !!!

The edition is limited on account of the paper crisis. A second edition may not be published in a hurry.

THE BOOK DEPARTMENT, **(O)**

Oudh Printing Works,

LUCKNOW

Please send me......... Copy / Copies of "STRONG MEN OVER THE YEARS" to the address given below. I have remitted Rs 5/8, (price per copy), by

† Money Order / Postal Order { No.. Value..

Postage on single Copy As, -/12/- extra

Signed....................................

Please write in Block Letters.

Name..

Address..

....

† IMPORTANT NOTICE : Payment may be made by Money Order or Indian Postal Order. Money Order should be addressed to The Book Department. Oudh Printing Works, Lucknow, and the name and address of the sender printed in BLOCK LETTERS on the "Correspondence" section to agree exactly with that given on the Order Form.

Postal Orders should be sent only under REGISTERED COVER and made payable to Oudh Printing Works, Lucknow, and crossed "& Co", and attached to the Order Form.

Kindly do not attach any correspondence to the Order Form. Other Enquiries should be addressed separately to The Manager, The Book Department, Oudh Printing Works, Latouche Road, Lucknow.

This book contains thrilling stories of

Super-wrestlers

Tiger tamers

Fire Walkers

Amazons

and

Super-strongmen

—Greater than the legendary heroes, Hercules, Sissyphus and Bheemsena—

Who lifted 1,200 lbs., and tossed away 8,000 lbs.,

and

Many others

Do you know them?